भारतीय साहित्य परिचय

प्राकृत और उसका साहित्य

हरदेव बाहरी

सम्पादक· क्षेमचन्द्र 'सुमन'

भारतीय साहित्य परिचय

डॉ० हरदेव बाहरी

जन्म : १९०७ ई०, तलागंग, अटक, पंजाब।

शिक्षा : बी० ए० (अँगरेज़ी में ऑनर्स) १९२६, एम० ए० (इतिहास) १९३१, हिन्दी भूषण १९२६, हिन्दी प्रभाकर १९३०, एम० ओ० एल० (संस्कृत) १९३२, शास्त्री, पी-एच० डी० (लहँदी भाषा-विज्ञान, पंजाब विश्वविद्यालय) १९४३, डी० लिट्० (हिन्दी शब्दार्थ-विज्ञान, प्रयाग विश्वविद्यालय) १९४५।

कार्य : सम्पादक साप्ताहिक आर्य-गज़ट लाहौर, १९३२-३३; प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष इतिहास-विभाग, डी० ए० वी० कालिज, रावलपिण्डी, १९३५-३७; अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत-विभाग, एचिसन चीफ़्स कालेज. लाहौर, १९३७-१९४७; लेक्चरर, हिन्दी-विभाग. प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४९ से। अनेक पुस्तकों के सम्पादक। प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दी काव्य-शैली का विकास, के रचयिता। कुछ कहानियाँ और एकांकी भी लिखे हैं। संस्कृति, साहित्य और विशेषतः भाषा पर लगभग १०० लेखों और निबन्धों के लेखक। हिं०सा०सम्मेलन के बृहत् अँगरेज़ी-हिन्दी-कोश (प्रेस में) के मुख्य सम्पादक। अनेक देशी और विदेशी भाषाओं के जानकार हैं। इलाहाबाद में स्थायी रूप से बस गए हैं। पता—१०, दरभंगा रोड, इलाहाबाद-२।

सुहृद्वर डॉ० धर्मानन्द केसरबानी
को
सस्नेह
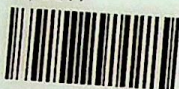
हरदेव बाहरी
प्रयाग
१. ७. '५६

प्राकृत और उसका साहित्य

: प्राकृत-भाषा और साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण :

लेखक
डॉ० हरदेव बाहरी

सम्पादक : क्षेमचन्द्र 'सुमन'

सरस्वती सहकार, दिल्ली-शाहदरा
की ओर से प्रकाशक
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली इलाहाबाद बम्बई

निवेदन

स्वतन्त्र भारत के साहित्यिक विकास में भारत की भाषाओं तथा उपभाषाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज यह अत्यन्त खेद का विषय है कि हमारे देश का अधिकांश पठित जन-समुदाय अपनी प्रादेशिक और समृद्ध जनपदीय भाषाओं के साहित्य से सर्वथा अपरिचित है। कुछ दिन पूर्व हमने 'सरस्वती सहकार' संस्था की स्थापना करके उसके द्वारा 'भारतीय साहित्य-परिचय' नामक एक पुस्तक-माला के प्रकाशन की योजना बनाई और इसके अन्तर्गत भारत की लगभग २७ भाषाओं और समृद्ध उपभाषाओं के साहित्यिक विकास की रूप-रेखा का परिचय देने वाली पुस्तकें प्रकाशित करने का पुनीत संकल्प किया। इस पुस्तक-माला का उद्देश्य हिन्दी-भाषी जनता को सभी भाषाओं की साहित्यिक गति-विधि से अवगत कराना है।

हर्ष का विषय है कि हमारी इस योजना का समस्त हिन्दी-जगत् ने उत्फुल्ल हृदय से स्वागत किया है। प्रस्तुत पुस्तक इस पुस्तक-माला का एक मनका है। आशा है हिन्दी-जगत् हमारे इस प्रयास का हार्दिक स्वागत करेगा। इस प्रसंग में हम इस पुस्तक के लेखक डॉ० हरदेव बाहरी के हार्दिक आभारी हैं, जिन्होंने अपने व्यस्त जीवन में से कुछ अमूल्य क्षण निकालकर हमारे इस पावन यज्ञ में सहयोग दिया है। राजकमल प्रकाशन के सञ्चालकों को भूल जाना भी भारी कृतघ्नता होगी, जिनके सक्रिय सहयोग से हमारा यह स्वप्न साकार हो सका है।

जी. १० दिलशाद गार्डन,
दिल्ली-शाहदरा

—*क्षेमचन्द्र 'सुमन'*

प्राकृत भाषा और साहित्य के मर्मज्ञ

गुरुवर

डॉ० ए० सी० वुल्नर

की

पुण्य स्मृति में

प्रस्तावना

अचिरकाल ही से प्राकृत भाषा और उसके साहित्य की ओर लोगों का ध्यान गया है। अभी बहुत-कुछ प्रकाश में भी नहीं आया। जैन-संस्थानों, भारतीय विद्या-भवन और कुछ अन्य संस्थाओं के प्रयत्नों से जो-कुछ उपलब्ध हुआ है, उसीके आधार पर यह पुस्तक तैयार की गई है। अप्रकाशित साहित्य तक हमारी पहुँच नहीं हो सकी। उत्तर प्रदेश में प्राकृत-साहित्य-सम्बन्धी कोई सामग्री सम्भवतः है भी नहीं। इन सीमाओं के रहते हुए भी और अति संक्षिप्त होते हुए भी, यह पुस्तक साधारण हिन्दी पाठक के लिए सन्तोषप्रद और ज्ञानवर्द्धक होगी, ऐसा हमारा विश्वास है; क्योंकि इस विषय पर इतना-भर भी किसी अन्य पुस्तक में प्राप्त नहीं है।

प्राकृत भाषा का परिचय देते हुए हमने साधारण पाठक के स्तर का ही ध्यान रखा है। भाषा के अपवादों और सूक्ष्म रूप-रूपान्तरों के झमेले में पड़ना उचित नहीं समझा गया। साहित्य का विवरण भी केवल परिचयात्मक है। इस विषय पर कार्य करते हुए हमारे पास बहुत-सी सामग्री जुट गई है, जिसका पूरा-पूरा उपयोग हम पुस्तक की पृष्ठ-सीमा के कारण नहीं कर सके।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में हमने प्राकृत-साहित्य से उद्धरण भी उपस्थित किये हैं। इन सन्दर्भों से दोहरा लाभ हो सकता है—भाषा पर प्रथम अध्याय में जो-कुछ कहा गया है उसको समझने

के लिए इनसे उदाहरण लिये जायँ और प्राकृत-साहित्य के सौन्दर्य का बोध हो। इसी दृष्टि से पूरा अनुवाद भी दिया गया है। अनुवाद में यथासम्भव मूल भाषा के शब्द-चयन और क्रम को सुरक्षित रखने की चिन्ता की गई है।

पुस्तक अधूरी भी है और त्रुटिपूर्ण भी, लेकिन यह प्राकृत के विद्वान् के लिए नहीं लिखी गई। इसका जो उद्देश्य है, जैसा कि सरस्वती सहकार के संचालक और भारतीय साहित्य परिचय-माला के सम्पादक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' ने हमारे सामने रखा है, उसकी पूर्ति इससे अवश्य होगी।

१०, दरभंगा रोड,
इलाहाबाद-२

—हरदेव बाहरी

क्रम

१. प्राकृत ६
२. जैन आगम साहित्य ३३
३. आगमेतर जैन साहित्य ४६
४. प्राकृत-काव्य ८२
५. नाटक-साहित्य ११६
६. विविध साहित्य १३८
७. उपसंहार १४२
अध्ययन-सामग्री १४६

ललिए महुरक्खरए जुवई-यण-वल्लहे स-सिंगारे ।
संते पाइय-कव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ? ।।

(जयवल्लभ : वज्जालग्ग)

[जब ललित, मधुर, युवतियों का प्रिय तथा शृङ्गार-रसपूर्ण प्राकृत-काव्य उपलब्ध है तो संस्कृत कौन पढ़े ?]

परुसो सक्कअ-बन्धो पाउअ-बन्धोवि होइ सुउमारो ।
पुरिस-महिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं ।।

(राजशेखर : कर्पूर मंजरी)

[संस्कृत भाषा कर्कश और प्राकृत भाषा सुकुमार होती है । पुरुष और स्त्री में जितना अन्तर होता है, उतना ही इन दो भाषाओं में है ।]

णवमत्थ-दंसणं संनिवेस-सिसिराओ बन्ध-रिद्धीओ ।
अविरलमणिमो आभुवण-बन्धमिह णवर पययम्मि ।।

(वाक्पतिराज : गउडवहो)

[सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर आज तक प्रचुर परिमाण में नूतन-नूतन अर्थों का दर्शन तथा सुन्दर रचना वाली प्रबन्ध-सम्पत्ति यदि कहीं भी है तो वह केवल प्राकृत में है ।]

प्राकृत भाषा

'प्राकृत' शब्द 'प्रकृत' तथा 'प्रकृति' से व्युत्पन्न होता है। प्रकृति का अर्थ है 'मूल'। एक मत यह है कि प्राकृत ही मूल भाषा है, परन्तु दूसरे मत के अनुसार मूल भाषा से विकसित होने वाली भाषा का नाम प्राकृत है। यह मूल भाषा संस्कृत मानी गई है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि संस्कृत मूल है, उससे उत्पन्न भाषा प्राकृत कहलाई।[1] 'प्राकृत-सर्वस्व' और 'प्राकृत चन्द्रिका' में भी यही कहा गया है।[2] प्रसिद्ध प्राकृत-व्याकरण 'षड्भाषा चन्द्रिका' के अनुसार संस्कृत मूल से विकृत होकर प्राकृत बनी।[3] 'प्राकृत-संजीवनी' में आता है कि संस्कृत प्राकृत की जननी है।[4] इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य में सुरक्षित रहकर प्राकृत का जो रूप हमें उपलब्ध हुआ है उससे प्राकृत को संस्कृत की पुत्री कहा जा सकता है। इसके ९५ प्रतिशत शब्द संस्कृत से मिलते हैं। इसका धातु-कोष तो पूर्ण-तया संस्कृतज है। इसका व्याकरण भी संस्कृत की प्रकृति के अनुरूप है— कुछ रूपों का संक्षिप्तीकरण और कुछ का सामान्यीकरण अवश्य हुआ

---

१. प्रकृतिः संस्कृतं तत्रभवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

२. प्रकृतिः संस्कृतं तत्रभवं प्राकृतमुच्यते।
प्रकृतिः संस्कृतं तत्रभवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्।

३. प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता।

४. प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः।

है। संस्कृत से हट कर जिस प्रकार की स्वतन्त्रता और विभिन्नता अपभ्रंश अथवा आधुनिक भाषाओं में पाई जाती है, वैसी प्राकृत में नहीं। साहित्यिक प्राकृत तो विशेषतया संस्कृत की परिचारिका बनकर चली है। इसीलिए इसमें तद्भव शब्दों का बाहुल्य और ठेठ देशी शब्दों की कमी है। प्राकृत का उत्तरवर्ती साहित्य ऐसा लगता है कि संस्कृत से उल्था कर लिया गया। बहुत-से परवर्ती लेखक सोचते संस्कृत में थे और लिखते प्राकृत में थे, जैसे आजकल के कई सुशिक्षित साहित्यकार अंग्रेजी में सोचते हैं और उसका अनुवाद अपनी भाषा में कर लेते हैं।

परन्तु भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उक्त मत असंगत, अप्रामाणिक और उलटा लगता है। 'संस्कृत' शब्द पहली बार 'पाणिनीय शिक्षा' में आता है—इससे पहले इसका प्रयोग नहीं मिलता। 'संस्कृत' का अर्थ है 'शुद्ध की हुई', 'मँजी हुई' भाषा। इससे प्रकट है कि कोई अटपटी, सम्मिश्रित, अनेकरूपा, विकृतिबहुला भाषा इससे पहले चली आती थी। उसीका संस्कार और स्थिरीकरण हुआ तो संस्कृत का विकास हुआ। लोक-भाषा का सामान्यीकरण करके ही साहित्य-भाषा बनती है। प्राकृत लोक-भाषा थी। संस्कृत देव-भाषा बनी। प्रसिद्ध अलंकार-शास्त्री नेमिसाधु ने 'प्रकृति' का अर्थ 'लोक' या 'प्रजा' किया है। 'प्राकृत जनानां भाषा प्राकृतम्', प्राकृत जनता की बोली थी।[1] पीछे से वह परिमार्जित होकर साहित्य में संस्कृत के रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोल-चाल की भाषा का अस्तित्व बराबर बना रहा। वेद में अनेक प्रादेशिक तथा प्राकृत शब्द और प्रयोग मिलते हैं। 'इन्द्रावरुणा', 'मित्रावरुणा', 'उच्चा', 'नीचा', 'पश्चा', 'भोतु', 'शिथिर' आदि प्रयोग प्राकृत के हैं, संस्कृत के नहीं। 'दुर्लभ' की जगह 'दूलभ', 'अमात्र' की जगह 'अमत्र', 'दुर्दभ' की जगह 'दूडभ', 'स्वर्ग' की जगह 'सुवर्ग', 'स्वः' की जगह 'सुवः', 'देवैः' की जगह 'देवेभिः' इत्यादि रूप वैदिक साहित्य में प्राकृत के अनुरूप

१. प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्।
प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्।

विद्यमान हैं। वैदिक भाषा में जन-भाषा के जो रूप और प्रयोग चल पड़े थे, उनको हटाकर नियमबद्ध एकरूपता और प्रादेशिकता के स्थान पर सार्वदेशिकता लाने के प्रयत्न अनेक वैयाकरणों ने किये और इस प्रकार साहित्यिक भाषा को स्थिर करना चाहा। पाणिनी उनमें प्रसिद्ध हैं। पाणिनी ने भी अनेक जन-भाषाओं का उल्लेख किया है और अनेक विकृतियों तथा सम्मिश्रणों को दूर करने की चेष्टा की है। किन्तु पाणिनी के बन्धन भी भाषा को बाँधे न रख सके। स्वयं संस्कृत में सैकड़ों शब्द प्राकृत के आ गए। जैसे—विकट (सं० विकृत), म्लेच्छ (सं० मलैक्ष), दण्ड (सं० दंत्र), आढ्य(सं० आर्ध्य), नापित(सं० स्नापित)। पुराण, गुग्गुलु, गल्ल, हाला, छुरिका प्रभृति शब्द प्राकृत से ग्रहण किये गए हैं। घोटक (घोड़ा), प्रस्तर (पत्थर), कुक्कुर (कुत्ता), षण्ड (साँड), मेष (मेंढ़ा), बलिवर्द (बैल), शकट (छकड़ा), घन, पानीय (जल), खाद् (खाना), लुभ् (लालच करना), मारय् (मारना), वाटिका (बाड़ी) इत्यादि अनेक शब्द जो हमें संस्कृत के लगते हैं, वे वस्तुतः प्राकृत के हैं। इनकी व्युत्पत्ति प्राचीन आर्य भाषा से सिद्ध नहीं होती। वैदिक भाषा में इनके स्थान पर क्रमशः अश्व, अश्मन्, श्वन्, वृष, अवि, वृषभ, वाह (अथवा रथ), रायप्, उदन्, अद्, गृध्, हन्, वेश आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनके समरूप शब्द यूरोप तथा एशिया की अन्य आर्य भाषाओं में भी प्राप्त होते हैं। संस्कृत में मुषल, मुसल; कलश, कलस; स्वर्ण, सुवर्ण; कक्ष, कच्छ; द्योति, ज्योति; करपाल, करवाल; श्राप, शाप; पृथ्वी, पृथिवी; गृहे, गेहे; रोम, लोम आदि द्विविध रूप प्राकृत के प्रभाव से चले आ रहे हैं। मनोऽर्थ से मनोरथ, पृषत्+उदर से पृषोदर, वारि+वाहक से बलाहक आदि रूप संस्कृत-व्याकरण से नहीं अपितु प्राकृत-व्याकरण से सिद्ध होते हैं।

आचार्यों ने इस विषय की गहरी छान-बीन की है कि संस्कृत का प्राकृत पर क्या प्रभाव पड़ा है। परन्तु जब तक इस बात की पूरी खोज नहीं होती कि प्राकृत ने संस्कृत को क्या देन दी है तब तक प्राकृत के महत्त्व का

मूल्यांकन पूर्णतया नहीं किया जा सकता।

न जाने कितने प्राकृत शब्दों पर संस्कृत का आवरण चढ़ा दिया गया, जिससे आज उनकी ठीक-ठीक पहचान कर पाना भी संभव नहीं है। कई विद्वान् मानते हैं कि संस्कृत-साहित्य का कुछ भाग मूलतः प्राकृत में था। उनका कहना है कि नाटक पहले प्राकृत में होते थे, बाद में उनका संस्कृत-रूपान्तर किया जाता रहा। इतिहास और पुराण के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है। प्रो० हर्टल का मन्तव्य है कि 'पञ्चतन्त्र' की मूल रचना प्राकृत में थी। 'बृहत्कथा' तो पैशाची प्राकृत में थी ही, पर आज उसका संक्षेप केवल संस्कृत में उपलब्ध है। कुछ विद्वानों ने 'गीत गोविन्द' का मूल रूप भी प्राकृत में माना है।

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार जन-साधारण में करने के लिए तत्कालीन जन-भाषा का ही प्रयोग किया ताकि अधिक-से-अधिक लोगों तक उनका सन्देश पहुँच सके। उन्होंने अपने शिष्यों को आदेश दिया कि आप देव-भाषा छोड़ दें; आपको अपनी शिक्षा देवताओं तक नहीं, जनता तक पहुँचानी है। बौद्ध ग्रन्थ मुख्यतः पालि भाषा में मिलते हैं, जो कि उस काल की लोक-भाषा थी। इसी प्रकार जैन साधुओं ने भी अपने धर्म का प्रचार प्राकृतों में किया।

प्रत्येक युग में जन-भाषा और देव-भाषा (प्राकृत अथवा बोल-चाल की भाषा तथा साहित्यिक भाषा) बराबर चलती रही हैं। संस्कृत-नाटकों में संस्कृत का प्रयोग शिष्ट, शिक्षित और उच्च वर्ग के व्यक्तियों से कराया गया है, एवं निम्न वर्ग के पुरुष और प्रायः स्त्रियाँ प्राकृत बोलती हैं। वस्तुस्थिति आज भी यही है कि शिष्ट-वर्ग और नगरों के लोग साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते हैं और ग्रामीण जनता भोजपुरी, अवधी तथा व्रजभाषा आदि का।

इतिहास और भाषा-शास्त्र साक्षी हैं कि किसी भी साहित्यिक भाषा का विकास जन-भाषा से होता है; लेकिन जब कोई जन-भाषा लिखी जाने लगती है और उसमें साहित्य-रचना होने लगती है, तो वह धीरे-धीरे

स्थिर हो जाती है, वह संस्कृति, शासन, धर्म, ज्ञान-विज्ञान और कला का वाहन बनने के लिए किसी-न-किसी साहित्यिक भाषा का आश्रय लेती है। उसका शब्द-भाण्डार उच्च और समृद्ध होने लगता है। उसके व्याकरणगत रूप और प्रयोग व्यवस्थित हो जाते हैं। लेकिन बोल-चाल की भाषा व्याकरण के नियमों की परवाह न करके आगे बढ़ती रहती है और उसमें कई परिवर्तन, कई सम्मिश्रण और विकार भी आ जाते हैं। उसी भाषा का साहित्यिक रूप जन-साधारण के लिए दुर्बोध हो जाता है। जब साहित्यिक भाषा का प्रभाव-क्षेत्र शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रह जाता है तो साहित्यकार लोकप्रियता की इच्छा से अथवा व्यापक प्रभाव डालने के उद्देश्य से तत्कालीन जन-भाषा में लिखने लगते हैं। वह जन-भाषा भी साहित्यिक भाषा बनकर व्याकरण के नियमों में जकड़ी जाती है और क्रमशः दोनों में शैली, व्याकरण, शब्द-भाण्डार और उच्चारण का बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। यह निश्चित है कि साहित्यिक भाषा का विकास जन-भाषा से होता है। यह भी निश्चित है कि किसी भी समय में किसी भी सभ्य देश में भाषा के दो रूप होंगे—एक बोल-चाल का और दूसरा साहित्य का, एक ग्राम्य और दूसरा नागरिक। दोनों रूप आदि में एक होते हुए भी कालान्तर में भिन्न हो जाते हैं और जब साहित्य की शैली और शब्दावली (अथवा अल्पजन-प्रयुक्त भाषा) जनता के लिए दुरूह और क्लिष्ट हो जाती है तो बहुजन-मान्य भाषा उसका स्थान ले लेती है। भाषा में गणतन्त्रात्मक राज्य होता है।

प्राकृतों से वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतों से संस्कृत का विकास भी हुआ और प्राकृतों से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए। इन प्राकृतों के तीन स्तर काल के गाल से बचकर हमें उपलब्ध हैं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश। पालि-काल बुद्ध के समय से लेकर ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक, प्राकृत-काल ६०० ई० तक और अपभ्रंश-काल ११०० ई० तक माना गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का अध्ययन मध्य काल की प्राकृत भाषा और उसके

साहित्य तक सीमित है। प्राकृत का व्यापक अर्थ न लेकर उसका ऐतिहासिक अर्थ ही लिया गया है; जिसके अनुसार प्राकृत एक ओर संस्कृत तथा पालि और दूसरी ओर अपभ्रंश तथा आधुनिक आर्यभाषाओं के बीच की कड़ी है। अर्थ-वैशिष्ट्य के नाते विद्वानों ने इसको 'साहित्यिक प्राकृत' कहा है।

प्राकृत के सामान्य लक्षण

प्राकृत को समझने के लिए संस्कृत का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। प्राकृत को संस्कृत के सुव्यवस्थित व्याकरण के प्रकाश में बड़ी सरलता और सुविधा से जाना जा सकता है। साहित्यिक प्राकृत के सांस्कृतिक और पारिभाषिक शब्द संस्कृत ही से उद्भूत हुए हैं। संस्कृत-प्रयोगों का अनुकरण भी प्रचुर मात्रा में हुआ है। तद्भव शब्दों की तो इतनी भरमार है कि लगता है कि प्राकृत का एक-मात्र काम संस्कृत को सरल करना था। संस्कृत की तुलना में प्राकृत की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ नीचे दी जा रही हैं—

स्वर—स्वरों में ऋ, ॠ, ऌ, ॡ का सर्वथा लोप हो गया है। ऋ का कभी-कभी रि रूप अवशिष्ट मिलता है; जैसे रिसि (सं० ऋषि), रिच्छ (सं० ऋत्त), रिण (सं० ऋण), सरिस (सं० सदृश) आदि में। लेकिन बहुधा इसके स्थान पर अ अथवा इ हो गया है—अ पश्चिमी प्राकृत में और ई पश्चिमोत्तरी प्राकृत में। उदाहरण—णच्च (सं० नृत्य, हिं० नाच), तण (हिं० तनूका) और तिण (हिं० तिनका)—दोनों सं० तृण से, माइ (सं० मातृ), कीइस (सं० कीदृश), घिणा (सं० घृणा), गिद्ध (सं० गृध्र), जंभा (सं० जृम्भा)। किन्हीं अवस्थाओं में ऋ का उ भी हुआ है। जैसे वुत्तन्त (सं० वृत्तान्त), वुड्ढ (सं० वृद्ध), पाउस (सं० प्रावृष्), उउ (सं० ऋतु) में। प्रायः ह्रस्व स्वर सुरक्षित रहे हैं—जैसे अंग (सं० अंग), अक्खि (सं० अक्षि), अग्गि (सं० अग्निः), इक्खु (सं० इक्षु), उग्गार (सं० उद्गार), उच्छाह (सं० उत्साह), उम्मुक्क (सं० उन्मुक्त) में। स्वराघात के अभाव में दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गए हैं। उदाहरण—सीयं (सं० सीताम्), अवमग्ग (सं० अवमार्ग), जिअंती (सं० जीवन्ती)।

लेकिन जहाँ स्वराघात सुरक्षित रहा है वहाँ दीर्घ स्वर भी बना रह गया है; जैसे डाइणी (सं० डाकिनी), दूर (सं० दूर), पीढ़िआ (सं० पीठिका), मूसय (सं० मूषक) में। ऐ की जगह ए (अथवा अइ) और औ की जगह ओ (अथवा अउ) प्रायः हुआ है; जैसे सेल (सं० शैल), दइव (सं० दैव), जोव्वण (सं० यौवन), गउड (सं० गौड) आदि में।

कुछ शब्दों में स्वरों का विलक्षण परिवर्तन हो गया है, जैसे पोम्म (सं० पद्म), सेज्जा (सं० शय्या), गेज्झ (सं० ग्राह्य), तोंड (सं० तुण्ड), णेउर (सं० नूपुर), गेन्दुअ (सं० कन्दुक) आदि में। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या बहुत कम है।

प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता। प्रायः इसकी जगह ओ हो जाता है। उदाहरण—वच्छो (सं० वृक्षः), जिणो (सं० जिनः) में।

व्यंजन—दो स्वरों के बीच में क, ग, च, ज, त, द, व का प्रायः लोप हो गया है; जैसे कयलि (सं० कदलि), वयण (सं० वचन), वाउल (सं० व्याकुल), णयर (सं० नगर, दे० हिं० 'बीकानेर' में), राय (सं० राजन्), एईस (सं० एतादृश, दे० हिं० ऐसा), लाअण्ण (सं० लावण्य) में।

कुछ अवस्थाओं में अघोष का सघोष और सघोष का अघोष रूप हो जाता है; जैसे सं० गच्छति, शाक, काकः से गच्छदि, साग, काग एवं सं० कम्बोज, दामोदर से कम्बोच, तामोतर। तवर्ग का कहीं-कहीं टवर्ग भी हो जाता है; जैसे पडिअ (सं० पतित), पट्टन (सं० पत्तन), वड्ढि (सं० वृद्धि), गंठिय (सं० ग्रथित) आदि में। विद्वानों का कहना है कि यह द्रविड़ भाषा के प्रभाव से हुआ है।

स्वरों के मध्यवर्ती ट का ड और ठ का ढ हो गया है; जैसे घड (सं० घट), जडिय (सं० जटित), पढ (सं० पठ) आदि में। मध्यवर्ती ख, घ, थ, ध और भ के स्थान पर ह रह गया है। उदाहरण—साहु (सं० साधु), णाह (सं० नाथ), मुह (सं० मुख), सलाहा (सं० श्लाघा), गहिर (सं० गभीर) आदि में। फ का कहीं भ और कहीं ह हुआ है; जैसे रेभ

(सं० रेफ), सेभालिआ, सेहालिआ (सं० शेफालिका) में।

मध्यवर्ती म का वँ और प का व अथवा लोप हो गया है; जैसे कँवल (सं० कमल), ताव (सं० ताप), अवर (सं० अपर) में।

न का सर्वत्र ण और श ष का प्रायः स हो गया है; जैसे णाम (सं० नाम), कणअ (सं० कनक), रिसि (सं० ऋषि), रासि (सं० राशि) आदि में। शब्दान्त हलन्त व्यंजनों का लोप हो गया है।

शब्द के आदि में स्पर्श व्यंजन र, ल और स, ह सुरक्षित रहते हैं। कभी-कभी य की जगह ज और व की जगह ब हो जाता है।

संयुक्त व्यंजन—संस्कृत के मध्यवर्ती असवर्ण संयुक्त व्यंजनों की जगह दीर्घ व्यंजन होता है; जैसे काष्ठ, दक्षिण, लक्ष्मण, मंत्रस्य, पुष्प, सप्त, मूत्र, वेश्या, अग्रे, पक्व, शब्द, षट्पद, उत्पल, लग्न, चक्र, हस्त, जन्म के स्थान पर क्रमशः काठ, दक्खिण, लक्खण, मंत्तस्स, पुप्फ, सत्त, मूत्त, वेस्सा, अग्गे, पक्क, सद्द, छप्पअ, उप्पल, लग्ग, चक्क, हत्थ, जम्म में। प्रायः संयुक्त व्यंजनों का परिवर्तन-क्रम सुगम और सुबोध है, पर कुछ-एक का परिवर्तन विलक्षण, पर नियमित रूप से होता है। इनके क्रम को निम्नलिखित उदाहरणों से समझा जा सकता है—

य्य, र्य और द्य से ज्ज; जैसे कज्ज (सं० कार्य), सेज्जा (सं० शय्या), विज्जु (सं० विद्युत्), अज्ज (सं० अद्य) में; त्य, त्स से च्च, च्छ; जैसे सच्च (सं० सत्य), वच्च, वच्छ (सं० वत्स), उच्छाह (सं० उत्साह), नच्च (सं० नृत्य) में; प्स, श्च से च्छ; जैसे पश्चात् से पच्छा, अप्सरा से अच्छरा; ह्य, ध्य, से ज्झ; जैसे गुज्झ (सं० गुह्य), बुज्झई (सं० बुध्यते) में; एवं र्त का प्रायः ट हो जाता है; जैसे णट्टई (सं० नर्तकी), केवट्ट (सं० कैवर्त) आदि में।

शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन रह जाता है; जैसे संकृत के स्थविर, प्रयाण, क्रोड, ग्राम, क्षुर, त्रुट, स्फोटन, ब्राह्मण, त्याग, ज्यौतिषिक, ज्ञान और श्रेष्ठ प्राकृत में थेर, पयाण, कोल, गाम, खुर (छुर), टुट, फोडण, बम्हण, चाय, जोइसिअ, जाण और सेट्ठ हो जाते हैं।

अन्य परिवर्तन—सभी चलती भाषाओं में अनेक ध्वनि-परिवर्तन होते रहते हैं। प्राकृत में भी स्वर-भक्ति, व्यत्यय, अक्षर-लोप, अक्षरागम आदि के अतिरिक्त अनियमित ध्वनियों के उदाहरण पर्याप्त संख्या में मिलते हैं; जैसे वरिस (सं० वर्ष), हरिस (सं० हर्ष), हलुअ (सं० लघुकः, हिं हलका), वाणारसी (सं० वरुणा-असि), सत्तर (सं० सप्तति), रुक्ख (सं० वृक्ष), एगावएण (एकपंचाशत्), इत्थी (सं० स्त्री), घर (सं० गृह), छुहा (सं० सुधा), एगारस (एकादशन्) आदि में।

प्राकृत ने इस प्रकार ध्वनियों का जो सरलीकरण किया उससे जहाँ भाषा को अनेक लाभ हुए, वहाँ एक बड़ा भारी दोष यह उपस्थित हो गया कि कई शब्द घिस-पिटकर एकरूप हो गए। इससे उनके ठीक-ठीक अर्थ को समझने में बड़ी कठिनाई होने लगी। संस्कृत के तत्सम शब्दों को पुनर्जीवित करने का एक यह भी कारण अवश्य रहा होगा। संस्कृत के शक्त, सक्त, सत्व, सत्र, सप्त, शप्त, की जगह प्राकृत सत्त; अर्घ्य, अर्य, आर्य, अद्य, आज्य की जगह केवल अज्ज; अथ, अहन्, अघस्, अदस्, अघ, अहा की जगह एक अह; नाग, नाद, न्याय, नाक (स्वर्ग), ज्ञात की जगह केवल णाय रह गया। कुछ शब्दों का रूप इतना सूक्ष्म हो गया कि वे प्रयोग के लिए अशक्त और हीन हो गए—उउ (सं० ऋतु), अइ (सं० अति), इइ (सं० इति), अउअ (सं० अयुत), अवइ (सं० अव्रती), आइ (सं० आदि, आजि), उअअ (सं० उदक), उइअ (सं० उदित, उचित) इत्यादि।

व्याकरण—प्राकृत भाषा के व्याकरण में भी सरलता आ गई। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ प्राकृत से आई हैं। प्राकृत में सन्धि के नियम शिथिल हो गए। सन्धि पहले वैकल्पिक और फिर कई अवस्थाओं में अनावश्यक मानी गई। होइ इह, एवं तु समणा एगे, जे य बुद्ध अणाणय, वग्गेव अवयासो आदि के बीच में स्वर-सन्धि नहीं हुई। व्यंजन-सन्धि का प्राकृत में प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि व्यंजनान्त शब्दों का अभाव हो गया। हलन्त संज्ञाएँ न रहने से कारकावली

सरल हो गई। प्रायः पुल्लिग संज्ञाएँ अकारान्त, इकारान्त और उकारान्त रह गईं तथा स्त्रीलिंग संज्ञाएँ आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त और ऊकारान्त। क्लीबलिंग संज्ञाओं को क्रमशः पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग बनाया जाने लगा। इस प्रकार आगे चलकर दो लिंग बच रहे। वचन भी दो रह गए—एकवचन और बहुवचन। द्विवचन का लोप हो गया। विभक्तियाँ भी संक्षिप्त हुईं। एक ओर प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के तथा दूसरी ओर षष्ठी और चतुर्थी विभक्ति के रूपों में समानता आती गई। कालान्तर में तृतीया और पंचमी का अन्तर भी न रहा। कुछ रूप संस्कृत के अनुकरण में भी चलते रहे, पर ठेठ प्रवृत्ति स्वतन्त्र सामान्यीकरण की ओर रही। साधारण पद्धति निम्नलिखित प्रकार की हो गई।

पुल्लिग शब्दों के चतुर्थी और षष्ठी एकवचन का प्रत्यय—स्स रह गया और बहुवचन में णं प्रत्यय। पंचमी और सप्तमी में दो-दो वैकल्पिक प्रत्यय प्रायः बराबर लगते रहे, पर यहाँ भी अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त संज्ञाओं का अन्तर नहीं रह गया। सप्तमी बहुवचन का सामान्य प्रत्यय—सु हो गया। तृतीया विभक्ति में अकारान्त शब्दों के एकवचन में —एण और अन्य शब्दों में—णा प्रत्यय और बहुवचन में—हि या हिं प्रत्यय बच रहा।

पुल्लिग एकवचन

कर्ता—वीरो, रिसि, भाणु, पिआ (पिता)

कर्म—वीरं, रिसिं, भाणुं, पिअरं

करण—वीरेण, रिसिणा, भाणुणा, पिउणा

सम्प्रदान—वीरस्स, रिसिस्स, भाणुस्स, पिउस्स

सम्बन्ध— ,, ,, ,, ,,

अपादान—वीराउ, रिसीउ, भाणूउ, पिऊउ

—वीराओ, रिसीओ, भाणूओ, पिऊओ

अधिकरण—वीरंसि, रिसिंसि, भाणुंसि, पिउंसि

—वीरम्मि, रिसिम्मि, भाणुम्मि, पिउम्मि

पुल्लिंग बहुवचन

कर्ता—वीरा, रिसओ (रिसिणो), भाणुओ (भाणुणो), पिऊ (पिअरा)
कर्म— ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
करण— वीरेहि, रिसिहि, भाणूहि, पिअरेहि
सम्प्रदान— वीराणं, रिसीणं, भाणूणं, पिऊणं (पिअराणं)
सम्बन्ध— ,, ,, ,, ,, ,,
अपादान— वीराउ (-ओ), रिसीउ (-ओ), भाणूउ (-ओ), पिऊउ (-ओ)
अधिकरण— वीरेसु, रिसीसु, भाणूसु, पिऊसु (पिअरेसु)

विकल्प रूप से पंचमी एकवचन तथा बहुवचन में—हिंतो प्रत्यय भी पाया जाता है। इस प्रकार वीराहिंतो, रिसीहिंतो आदि रूप भी बनते हैं। स्त्रीलिंग पंचमी बहुवचन में आगे चलकर यह प्रत्यय निर्विकल्प हो गया। स्त्रीलिंग रूपों में समानता और भी अधिक हो गई। एकवचन में तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्तियों के कारक-चिह्न एक-से हो गए। बहुवचन के रूप पुल्लिग संज्ञाओं के रूपों के अधिक निकट आ गए।

स्त्रीलिंग एकवचन

कर्ता— माला, नदी, धेनू, बहू
कर्म— मालं, नदिं, धेणुं, बहुं
करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण— मालाअ (-इ,-ए), नदीअ (-आ, -इ,-ए), धेणूअ (-अ, -इ, -ए), बहूअ (-आ, -इ, -ए)

स्त्रीलिंग बहुवचन

कर्ता—, *कर्म*— माला (मालाउ, -ओ), नदीआ (नदीउ, -ओ) धेणू (धेणूउ, -ओ), बहू (बहूउ, -ओ)
करण— मालाहि, नदीहि, धेणूहि, बहूहि, (-हिं)
अपादान— मालाहिंतो, नदीहिंतो, धेणूहितो, बहूहिंतो

सम्प्रदान— मालाणं, नदीणं, धेणूणं, बहूणं,

सम्बन्ध— ,, ,, ,, ,,

अधिकरण— मालासु, नदीसु, धेणूसु, बहुसु

सर्वनामों में भी प्रवृत्ति सरलीकरण की ओर है, परन्तु संज्ञाओं की अपेक्षा इनमें अपवाद और विविध रूप अधिक हैं। लेकिन सर्वनामों और संज्ञाओं में रूपान्तर की एकरूपता अवश्य बढ़ रही है। यहाँ पर कुछ सामान्य रूप दिये जाते हैं। क्रम-संख्या विभक्तियों की है।

ज (सं० यत्, हिं० जो)

पुल्लिंग एकवचन—(१) जो, जे, (२) जं, (३) जेण, (४) जस्स, (५) जस्स, (६) जम्हा, जाओ, (७) जस्सिं, जम्मि;

बहुवचन—(१) जे, (२) जे, जा, (३) जेहि, (५) जेहि, जाहि, जाहितो, (४) जाणं, (६) जाणं, (७) जेसु

ता (सं० तद्, हिं० वह)

स्त्रीलिङ्ग एकवचन—(१) सा, (२) तं, णं, (३) तीअ, तीआ, —इ,—ए, (५) वही, (४) से, तीअ आदि; जैसे तृतीया पंचमी में, (६) वही, (७) ताहि, तीअ आदि;

बहुवचन—(१) तथा (२) तीअ, तीउ, तीओ, (३) तथा, (५) तीहि, ताहि, (४) तथा, (६) सिं, ताणं, (७) तासु

तुम्ह (सं० युष्मत्, हिं० तुम)

एकवचन—(१) तथा, (२) तुं, तुमं, (३) ते, तइ, (४) तथा, (६) तुह, तुज्झ, (५) तुवाओ, तुमाओ, (७) तुमहिसस, तुमम्मि

अम्ह (सं० अस्मद्, हिं० हम)

बहुवचन—(१) तथा, (२) मो, अम्हे, (३) अम्हेहि, अम्हे, (४) तथा, (६) मज्झ, अम्हे, अम्हाणं, (५) ममाओ, ममाउ, (७) अम्हेसु।

विशेषणों का रूपान्तर संज्ञा के लिंग-वचन-कारक के अनुरूप (जैसा संस्कृत में) होता है।

क्रियाओं में प्रमुख घटना यह है कि परस्मैपद और आत्मनेपद का भेद नहीं रह गया। सब क्रियाएँ परस्मैपद में चलती हैं। वर्तमान काल के प्रत्यय संस्कृत से गृहीत हैं। जैसे—

	एकवचन	*बहुवचन*
प्रथम पुरुष	पुच्छमि	पुच्छमो
द्वितीय पु०	पुच्छसि	पुच्छह
तृतीय पु०	पुच्छति,–दि, पुच्छइ	पुच्छंति

भूतकाल के ह्यस्तन, अद्यतन और परोक्ष भेद न होकर एक ही तरह के रूप रह गए एवं आख्यात की जगह कृदन्त का प्रयोग अधिक होने लगा है जैसा कि हिन्दी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं में होता है।

पा (पीना) से तीनों पुरुषों के रूप—

एकवचन	*बहुवचन*
पासी, पाही, पाहीअ	पाहीअ

-इत्था (भूतकालिक) तीनों पुरुषों और दोनों वचनों में प्रयुक्त होता है, जैसे होइत्था (हुआ), भुंजित्था (खाया), सेवित्था (सेवा की)।

भविष्यत् काल के संस्कृत प्रत्ययों से पहले विकल्प से हि और स्स, जैसे करिहिइ, भणिहिति, भणिस्सइ, करिस्सइ आदि में। संस्कृत की तरह श्वस्तन और भविष्यत् ये दो भेद प्राकृत में नहीं पाये जाते।

विध्यर्थ में वर्तमान काल के प्रत्ययों के पहले ज्ज लगता है, जैसे होज्जामि, होज्जसि, होज्जए (हिं० होऊँ, होवे)।

छः में से चार लकारों का प्राकृत में लोप हो गयो है। केवल आज्ञा और विधि का व्यवहार शेष है।

वर्तमान कृदन्तों में माण का प्रयोग अधिक व्यापक हो गया है, अंत का ह्रास हुआ है। भूत कृदन्त में इत, इद, इअ का विकास स्पष्ट है जैसे सं० कृत से कइत, कइद, कइअ (हिं० किया)। तद्धितों में विशेष प्रवृत्ति त्व के स्थान पर त्त और त्तण होता है, जैसे सं० देवत्व से प्रा० देवत्त, देवत्तण।

याद रहे कि कोई भी भाषा नियमों की चिन्ता नहीं करती। प्राकृत-व्याकरण के नियमों में विशेषतया अपवाद बहुत अधिक हैं। ऊपर जो विवरण दिया गया है वह सामान्य प्राकृत की प्रमुख प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन-मात्र कराता है।

शब्द-भांडार—प्राकृत में तत्सम शब्द बहुत कम हैं। प्रायः वही शब्द तत्सम रूप में बच गए हैं जिनकी ध्वनियों में नियमित रूप से कोई परिवर्तन हो ही नहीं सका। जैसे—नीर, दाह, धूलि, माया, सीर, वीर, घोर, कंक, कंठ, कंस, कल, कवि, दावानल, संसार, कुल, केवल, खंड, गरल, गिरि, गोल, चिर, चित्त, जरा, तल, ताल, तीर, तिमिर, दुस्सह, देवी, पट्ट, परिहार, लालसा, दारुण, हल, मन्दिर आदि।

शौरसेनी प्राकृत में संस्कृत शब्दों का पूर्ण विकास नहीं हुआ। उसमें तत्सम शब्दों की अधिकता है। जैसे—कमल, ओघ, सुख, पराजय, मेखला, राघव, वागुर, वाजीकरण आदि। सामान्य प्राकृत में इनके स्थान पर कँवल, ओह, सुह, पराअय, मेहला, राहव, वाउर, वाइअरण हो जाना चाहिए।

प्राकृत में तद्भव शब्दों की भरमार है। यह इसके बोल-चाल के निकट होने का प्रमाण है। हमारा अनुमान है कि उपलब्ध प्राकृत में कम-से-कम ८०% शब्द तद्भव हैं।

देश्य शब्द तीन प्रकार के हैं—एक वे जो मूल में तो संस्कृत थे, पर उनके संस्कृत रूप नष्ट हो गए हैं अथवा इन शब्दों में इतने विकार आ गए हैं कि इन्हें संस्कृत से व्युत्पन्न मानना बड़ा कठिन है। दूसरे वे जो प्राकृत ने स्वयं गढ़े हैं; और तीसरे वे जो आस-पास की भाषाओं से उद्धृत किये गए हैं। इन भाषाओं में देशी (द्रविड़ादि) और विदेशी दोनों सम्मिलित हैं। भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में यह कहना अत्यन्त कठिन है कि कौन-कौन शब्द गढ़न्त हैं और कौन-कौन-से उधार लिये गए हैं। देशी शब्दों में महाप्राण ध्वनियों और टवर्ग का बाहुल्य स्पष्ट है। उदाहरण—खड्डा, खंखर, खलमलिअ, खसिअ, खिच्च (हिं०खिचड़ी), खोंट्ट, (हिं०खोंटा), घग्घर (हिं०घाघरा), घरट्ट (अन्न पीसने का पाषाण-यन्त्र), छल्ली

(हिं० छाल), छायणी (हिं० छावनी), छिक्का, छोयर (हिं० छोरा), झगड (हिं० झगड़ा), झडप्प, झिंगिर, झुंपडा, झोलिश्रा, टट्टार, खडक्की, धरग्ग (कपास), धूण (हाथी), थट्टि (पशु), थूण (घोड़ा), णिउक्कण (कौआ), ढंगार (घुमक्कड़), ढड्ढ (भेरी), डेकुण (खटमल), डुंडुश्र (पुराना घंटा) इत्यादि।

जैन प्राकृत में भरपूर साहित्य है, इसलिए उसका शब्द-भाण्डार भी बहुत सम्पन्न और उच्च है। जैन शास्त्रों में पारिभाषिक शब्द भी प्रचुर मात्रा में हैं। अनेक संस्कृत-शब्दों का अर्थ-परिवर्तन और अर्थ-विस्तार भी हुआ है। पर यहाँ ऐसी सूचियाँ देने का विशेष लाभ न होगा।

प्राकृत के भेद

भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, दाक्षिणात्या, वाह्लीकी, आवन्ती तथा प्राच्या। प्राकृत वैयाकरण चन्ड ने 'प्राकृत लक्षण' में माहाराष्ट्री के अतिरिक्त गौण रूप से शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रंश का वर्णन किया है। वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' के नौ परिच्छेदों में माहाराष्ट्री भाषा का व्याकरण लिखा है। दशम परिच्छेद में पैशाची, ११वें में मागधी और १२वें में शौरसेनी का स्वरूप समझाया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी माहाराष्ट्री को सामान्य प्राकृत मानकर इसका विस्तृत वर्णन किया है और शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की विशेषताएँ बताई हैं। 'साहित्य दर्पण' में १२ प्राकृतों के नाम गिनाये गए हैं—शौरसेनी, माहाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, प्राच्या, आवन्तिका, दाक्षिणात्या, शाकरी, वाह्लीकी, द्राविड़ी, आभीरी, चांडाली। 'प्राकृत-लंकेश्वर' में १६ और 'प्राकृत-चन्द्रिका' में २७ भेद बताये गए हैं। समय के साथ-साथ बोलियों की संख्या अथवा इनकी जानकारी अवश्य बढ़ती रही होगी। आज भारत की बोलियों की संख्या ५-६ सौ तक मानी जाती है। परन्तु इन सबमें साहित्य नहीं है, न ही उस युग

की सभी प्राकृतों में साहित्य था। साहित्यिक महत्ता की दृष्टि से मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी और माहाराष्ट्री—ये पाँच प्राकृतें मुख्य हैं। यहाँ पर इन्हीं का संक्षिप्त परिचय देना अभीष्ट है।

माहाराष्ट्री—अधिकतर वैयाकरणों ने भी माहाराष्ट्री प्राकृत का विशेष वर्णन किया है और अन्य प्राकृतों के केवल मुख्य-मुख्य लक्षण देकर 'शेषं महाराष्ट्रीवत्' कहने से अपना कार्य संक्षिप कर दिया है। आचार्यों ने इसे सामान्य या आदर्श (standard) प्राकृत माना है। दण्डी का कहना है कि **'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः'**, माहाराष्ट्री सर्वोत्कृष्ट प्राकृत है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने माहाराष्ट्री के अर्थ में मात्र प्राकृत शब्द व्यवहृत किया है। ८० प्रतिशत प्राकृत साहित्य माहाराष्ट्री में लिखा गया है।[1] 'सेतुबन्ध', 'गाथासप्तशती', वज्जालग्ग', 'रावणवहो', 'गउडवहो', 'कुमारपालचरित' प्रभृति सभी महत्त्वपूर्ण गीतिकाव्य तथा प्रबन्धकाव्य इसी प्राकृत में हैं। परम्परा से माहाराष्ट्री पद्य की और शौरसेनी गद्य की भाषा रही है। नाटकों में भी उच्च कुल की स्त्रियाँ शौरसेनी में वर्तालाप करती हैं। पर गीत माहाराष्ट्री में हैं।

भरतमुनि तथा प्राकृत के प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में प्राकृतों में माहाराष्ट्री का नामोल्लेख नहीं मिलता। जिससे अनुमान किया गया है कि महाराष्ट्री का विकास बाद में हुआ। डॉ० मनमोहन घोष का विचार है कि माहाराष्ट्री शौरसेनी की एक उत्तरकालीन शाखा है। हॉर्नले के मत में महाराष्ट्र का अर्थ 'महान् राष्ट्र' है, अतः महाराष्ट्री 'विशाल राष्ट्र की भाषा' है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ५वीं-छठी शताब्दी में महाराष्ट्री का साहित्यिक प्रभाव भारत-भर में व्याप्त था।

भरत के अनुसार नाटकों में धूर्त पात्रों के लिए 'आवन्ती' और द्यूतकारों के लिए 'वाह्लीकी' का प्रयोग होता है। मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' में इन दोनों प्राकृतों का सादृश्य माहाराष्ट्री से सिद्ध किया है। इनमें कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है।

---

१. देखिये इस पुस्तक का चौथा अध्याय।

लौकिक माहाराष्ट्री से कुछ अंशों में भिन्न वह रूप है जिसमें श्वेताम्बर जैनों का धार्मिक साहित्य मिलता है। हर्मन जाकोबी इसे जैन माहाराष्ट्री के नाम से अभिहित करते हैं। इसका प्राचीन रूप (प्रथम शती, ईसवी) टीका-ग्रन्थों और 'वसुदेवहिण्डि', 'पउम-चरिय' आदि कथा-ग्रन्थों में प्राप्त होता है। 'समराइच्च-कहा' (८वीं शती) (शौरसेनी प्रबन्ध) का पद्य भाग भी जैन माहाराष्ट्री में है। 'उवएस माला' की प्राकृत भी यही है। इनके अतिरिक्त श्वेताम्बर आचार्यों के कथानक, चरित, स्तोत्र तथा प्रकरण एवं दर्शन, तर्क, ज्योतिष, भूगोल आदि विषयों पर विशाल साहित्य जैन प्राकृत में विद्यमान है। १४वीं शताब्दी ईसवी तक इस प्राकृत में साहित्य-रचना के प्रमाण प्राप्त हैं।

शौरसेनी—मथुरा और उसके आस-पास के प्रदेश को शूरसेन कहते हैं अर्थात् शौरसेनी मध्य प्रदेश की भाषा थी। ऐतिहासिक दृष्टि से शौरसेनी उत्तरकालीन वैदिक भाषा, संस्कृत और साहित्यिक पालि इन सबकी उत्तराधिकारिणी थी। यह उसी आर्यावर्त की भाषा थी जहाँ पूर्वकाल में उक्त सभी भाषाओं का साहित्यिक रूप निश्चित हुआ, और जहाँ की भाषा को युग-युग से राष्ट्रभाषा होने का गौरव मिलता रहा है—ब्रजभाषा और खड़ी बोली हिन्दी इसीकी परम्परा में आती है। प्राकृतों में शौरसेनी सबसे प्राचीन मानी जाती है।

बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मध्य देश का पर्याप्त साहित्य राजनीतिक क्रान्तियों के कारण नष्ट हो गया। शौरसेनी का लोक-साहित्य केवल नाटकों में सुरक्षित रह गया है। धार्मिक साहित्य जैन-ग्रन्थों में पाया जाता है। विद्वानों ने भाषा के उस रूप को जैन-शौरसेनी कहा है। दिगम्बर मत का सिद्धान्त-साहित्य इसीमें है। इस कारण से कुछ लोगों ने इसे 'दिगम्बरी' भाषा भी कहा है।

नाटकों में शौरसेनी गद्य की भाषा है। अश्वघोष, भास, कालिदास प्रभृति सभी नाटककारों ने इसका प्रयोग मध्यम वर्ग और सामान्य जनता द्वारा कराया है। प्रतिष्ठित कुलों की स्त्रियाँ भी शौरसेनी का व्यवहार

करती हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है, शौरसेनी संस्कृत भाषा के अधिक निकट है। माहाराष्ट्री में ध्वनियों का विकास आगे बढ़ गया है। उदाहरण—

संस्कृत	शौरसेनी	माहाराष्ट्री
रजत	रअद	रअअ
पाषाण	पासाण	पाहाण
गदा	गदा	गआ
इति	इदि	इइ
जानाति	जाणादि	जाणइ
भवति	भोदि	होइ
नाथ	णाध, णाह	णाह
कथ्यतां	कधीअदु	कहिज्जो
आर्य्य	अय्य, अज्ज	अज्ज
सूर्य्य	सुय्य, सुज्ज	सुज्ज
आत्मा	अत्ता	अप्पा

शौरसेनी ने कहीं-कहीं महाप्राण ध्वनियों को अल्पप्राण कर दिया है जब कि माहाराष्ट्री में उनकी जगह ह हो जाता है। शौरसेनी में माहाराष्ट्री की अपेक्षा तत्सम और अर्धतत्सम शब्द अधिक हैं। व्याकरण में माहाराष्ट्री ने अधिक सरलता ला दी है, जैसे शौरसेनी में आत्मनेपदी रूप यदा-कदा मिल जाते हैं और विभक्तियों का संक्षिप्तीकरण भी कम हुआ है। ऐसा लगता है कि वैयाकरणों ने पहले शौरसेनी को बाँध लेने की कृपा की होगी।

मागधी—मागधी मगध और उसके पूर्वीय प्रदेश की भाषा थी। कहते है कि भगवान् बुद्ध का उपदेश इसी भाषा में था। मागधी के प्राचीन रूप का नाम पालि है। अशोक के समय में यह राज-भाषा थी। उत्तर और पूर्वी भागों के अशोक-शिला-लेखों में तथा संस्कृत-नाटकों (विशेषतया 'मृच्छकटिक') में इसके उदाहरण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त मागधी

का कोई स्वतन्त्र साहित्य नहीं मिलता। नाटकों में इसका प्रयोग राजान्तः-पुरचारी, सुरंग खोदने वाले, कलवार, अश्वपालक, भिक्षु, क्षपणक आदि लोग करते हैं। वैयाकरणों ने शाकारी, चाण्डाली, और शाबरी को मागधी की विभाषा माना है। 'मृच्छकटिक' में प्रयुक्त दो जुआरियों की भाषा को 'ढक्की' नाम दिया गया है। यह भी मागधी की ही विभाषा जान पड़ती है।

मागधी की प्रकृति का मूल शौरसेनी को बताया गया है। इसमें संदेह नहीं कि मगध की तत्कालीन साहित्यिक भाषा राष्ट्रभाषा शौरसेनी ही रही है। मागधी की अपनी विशेषताएँ नीचे दी जा रही हैं—

र के स्थान में ल, जैसे नल (सं० शौ० नर); कल (सं० शौ० कर) में। श, ष, और स के स्थान में तालव्य श, जैसे शालश (सं० शौ० सारस); शोहण (सं० शोभन, शौ० सोहण), पुलिश (सं० पुरुष, शौ० पुरिस) में। ज और य की जगह य, जैसे याणादि (सं० जानाति, शौ० जाणादि), यम (सं० यम, शौ० जम) में। विसर्ग की जगह ए, जैसे से (सं० सः शौ० सो) में।

कई संयुक्त व्यंजनों में बहुत कम परिवर्तन, जैसे सं० सुष्ठु, बृहस्पति, उपस्थित, प्रज्ञा, राक्षस की जगह क्रमशः शुस्ठु, बुहस्पदि, उवस्तिद, पञ्ञा, लस्कश।

मागधी की व्याकरणगत विशेषताएँ हैं तो सही, पर वे बहुत कम हैं।

अर्धमागधी—मगध और शूरसेन प्रदेश के बीच के क्षेत्र की प्राकृत का नाम अर्धमागधी है। इसमें मागधी और शौरसेनी दोनों के लक्षण मिल जाते हैं[1] इसीलिए इसका यह नाम रखा गया है।[2] विद्वानों के अनुसार यह अवध और भोजपुर प्रदेशों की तत्कालीन भाषा थी। साहित्यिक दृष्टि

१. अर्धमागधी का झुकाव शौरसेनी की ओर अधिक है, मागधी की ओर कम।

२. अर्धमागधी का एक यह भी अर्थ लिया जाता है कि वह आधे मगध की भाषा थी।

से अर्धमागधी का स्थान इसी बात से निश्चित किया जा सकता है कि आचार्यों ने इसे 'ऋषिभाषिता' तथा 'आर्ष' कहा है। भगवान् महावीर अपना धर्मोपदेश अर्धमागधी में देते थे और इसीके आधार पर उनके शिष्यों ने सूत्र-ग्रन्थों (जैसे आगम-साहित्य) का सम्पादन किया।[1] नाटकों में इसका प्रयोग नौकरों, राजपुत्रों, और श्रेष्ठियों द्वारा कराया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन-अर्धमागधी इस प्राकृत का प्राचीन रूप है और नाटकों में प्रयुक्त अर्धमागधी इसका उत्तरकालीन रूप। दोनों में बड़ा अन्तर है। पद्य और गद्य की अर्धमागधी में भी अन्तर है।

इस भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

स्वरों के मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द, य के स्थान में य के अतिरिक्त अनेक शब्दों में त पाया जाता है; जैसे सं० आराधक, नरकात्, अतिग, नाराच, प्रवचन, पूजा, राजेश्वर, आकृति, करोति, नदी, कदाचित्, सामयिक और नायक की जगह अर्ध० आराहत, नरताती, अतित, णारात, पावतण, पूता, रातीसर, आगिति, करेति, नती, कताति, सामातित और णातग मिलता है।

कई शब्दों में 'न' भी सुरक्षित रह गया है।

विसर्ग की जगह ए होता है; जैसे मागधी में।

दन्त्य व्यंजनों की जगह मूर्धन्य ध्वनि करने की प्रवृत्ति इसमें बहुत अधिक है।

व्याकरण-सम्बन्धी कई सूक्ष्म भेद हैं, जिनका विस्तृत विवरण यहाँ देना समीचीन न होगा।

पैशाची—पैशाची एक प्राचीन प्राकृत मानी जाती है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार इनके एक सम्प्रदाय (स्थविरवादियों) के ग्रन्थ पैशाची में थे। इसके उदाहरण 'कथा-सरित्सागर', 'बृहत्कथा-मंजरी', 'बाल-रामायण', 'वाग्भट्टालंकार' आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-नाटकों में मिल जाते हैं। 'दशरूपक' के अनुसार निम्नवर्ग के लोग पैशाची का व्यवहार

---

१. देखिये इस पुस्तक का अगला अध्याय।

करते थे। वाग्भट्ट ने पैशाची को पिशाचों की भाषा कहा है। 'महाभारत' में पिशाच जाति का नाम मिलता है। यहाँ पिशाच का अर्थ राक्षस है। अनेक ग्रन्थों में इसे 'भूतभाषा', 'भूतभाषित', 'भूतवचन' कहा गया है। मार्कण्डेय ने पैशाची भाषा को कैकेय, शौरसेन और पाञ्चाल प्रदेशों में विभक्त करके उसे शौरसेनी (राष्ट्रभाषा) से प्रभावित माना है। वररुचि ने शौरसेनी को पैशाची का मूल कहा है। होर्नल का मत है कि पैशाची द्रविड़ भाषा थी, जिस पर द्रविड़ भाषा का गहरा प्रभाव था। पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर प्रदेश जान पड़ता है, परन्तु इस सीमा के बाहर मध्य-देश तक इसका व्यवहार होता था। पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान और काश्मीर की भाषाओं में पैशाची का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। परन्तु इस भाषा की पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नहीं है। कुछ उदाहरण प्राकृत-व्याकरणों और संस्कृत-काव्य-शास्त्रों में मिल जाते हैं। इसके अवशेष चीनी तुर्किस्तान, काफ़िरस्तान, गांधार आदि में पाये गए शिला-लेखों में भी मिलते हैं। पैशाची में कोई साहित्य उपलब्ध नहीं है। गुणाढ्य-कृत 'बृहत्कथा' के कारण इसकी ख्याति शेष है। पर मूल कृति कालकवलित हो गई है। उसके संस्कृत में रूपान्तरित अंश सोमदेव-विरचित 'कथा-सरित्सागर', क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथा-मंजरी' और बुद्धस्वामिन-कृत 'बृहत्कथाश्लोक-संग्रह' में मिलते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने वाल्मीकि और व्यास के बाद गुणाढ्य को नमस्कार किया है। बाण, गोवर्धन, सुबन्धु, दण्डी, धनिक आदि ने इनका सादर उल्लेख किया है। ऐसा जान पड़ता है कि १२वीं शती तक मूल 'बृहत्कथा' उपलब्ध थी। गुणाढ्य प्रतिष्ठान के राजा शालिवाहन (सातवाहन, सन् ७८ ई० के आस-पास) के राज-दरबार में रहते थे। बाद में पिशाच देश में जा बसे थे। वहीं उन्होंने लोक-कथाओं का यह अपूर्व संग्रह सम्पादित किया था।

सम्भव है कि कुछ पद्य 'पृथ्वीराज-रासो' में हों, क्योंकि कवि ने इसे 'षट्भाषा पुरान' कहा है। 'हम्मीरमद-मर्दन' और 'मोहराज-पराजय' आदि अर्वाचीन नाटकों के एक-दो पात्र पैशाची बोलते हैं। बूँदी रिया-

सत के राजाओं का 'वंशभास्कर' नाम से एक इतिहास है, जो सौ-सवा सौ बरस पहले लिखा गया था। उसके कई अध्याय पैशाची में हैं। पैशाची ही की एक शाखा थी चूलिका पैशाची। इसका निदर्शन हेमचन्द्र-कृत 'कुमारपालचरित' के अतिरिक्त व्याकरण और अलंकार-ग्रन्थों में मिलता है।

संस्कृत की तुलना में इसकी प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—स्वरों के मध्य-वर्ती ल के स्थान में मूर्धन्य ळ, जैसे सीळ, कुळ में; सघोष व्यंजन की जगह अघोष, जैसे तामोतर, नकर (सं० नगर) में; त, द के स्थान में त, जैसे भकवती, सत, मतन, तेव में; ण, न के स्थान में न, जैसे गुन, कनक में; अनेक स्वर-मध्यवर्ती ध्वनियों का कहीं-कहीं संरक्षण, जैसे साखा, मठ, सपथ, यस आदि में।

प्राकृतों के अध्ययन का महत्त्व

हमने ऊपर यह दिखाने की चेष्टा की है कि प्राकृत से ही साहित्यिक वैदिक भाषा और संस्कृत का विकास हुआ है। वैदिक से संस्कृत में आते-आते ध्वनियों, शब्दों और अर्थों तथा व्याकरण के रूपों में जो सरलता, समता और स्वाभाविकता आई है उसमें लोक-भाषा की प्रवृत्ति स्पष्ट है। वैदिक और संस्कृत में प्राकृत के अनेक शब्द हैं। बिना प्राकृत के अध्ययन के संस्कृत का शब्दद्वैध सहज में नहीं समझा जा सकता। साधारण पाठक के लिए आकर, आगर; अगार, आगार; चरित्र, चरित; शूर, सूर; कोष, कोश; मदन, मयन; प्रकट, प्रगट; आदि शब्द-युगल सब संस्कृत के हैं। हम लोग भट्ट, पुराण, गल्ल, वहू, शिथिल, हाला, आढ्य, भाण्ड, मुण्ड, विकट, कुक्कुर, उड्डीय आदि शब्दों को संस्कृत की सम्पत्ति मानते आ रहे हैं। प्राकृत के अध्ययन ने संस्कृत की उदारता, सर्वग्राहिता और सजीवता को प्रमाणित किया है। प्राकृत का संस्कृत के विकास में क्या योग है, इस विषय पर गहरी खोज की आवश्यकता है।

साहित्य और बोल-चाल की भाषा का क्या सम्बन्ध और अन्तर होना चाहिए, इसकी जानकारी आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के लिए

बहुत आवश्यक और उपयोगी होगी। साहित्यिक प्राकृत ने संस्कृत, द्रविड़, देशी, विदेशी सभी भाषाओं से बहुत-कुछ ग्रहण किया, पर उसने अपनी प्रकृति का त्याग नहीं किया। उसमें जन-भाषा और साहित्य-भाषा का आदर्श सम्मिश्रण हुआ है। तद्भव और देशी शब्दों की कोमलता, मधुरता और सरलता एवं तत्सम शब्दों की गरिमा और ओजस्विता, जो प्राकृत में प्राप्त है वह अभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में नहीं आ पाई।

आज जितना अन्तर बंगला, मराठी, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी आदि आधुनिक आर्य भाषाओं में मिलता है, उतना इनकी मूल प्राकृतों में नहीं है। इस अन्तर के इतिहास को समझने के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि से बंगला, उड़िया, असमी तथा पूर्वी बिहारी (मैथिली और मगही) का विकास मागधी से; पश्चिमी बिहारी और पूर्वी हिन्दी (भोजपुरी, अवधी, छत्तीसगढ़ी) का अर्धमागधी से; पश्चिमी हिन्दी (व्रजभाषा, खड़ी बोली आदि) पंजाबी, राजस्थानी और पहाड़ी का शौरसेनी से; लहंदा, सिंधी का पैशाची और शौरसेनी के सम्मिश्रण से; गुजराती और मराठी का माहाराष्ट्री से हुआ है। प्राकृतों के अध्ययन के बिना इन भाषाओं की प्रकृति को ठीक-ठीक जान पाना सम्भव नहीं है।

प्राकृत-साहित्य के अध्ययन से हमें कम-से-कम १००० वर्ष के इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, कला और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त होता है। तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री के अधिकतर स्रोत-चरित और कथा-ग्रन्थ तथा शिला-लेख प्राकृत में हैं। अशोक-काल से लेकर १२वीं शती तक और गांधार-काफिरस्थान से लेकर बंग प्रदेश तक तथा हिमालय से लंका तक प्राकृत भाषा में लिखे शिला-लेख और ताम्र-पत्र मिले हैं। इसी काल के सिक्कों पर भी प्राकृत में बहुत-सी सूचनाएँ मिल जाती हैं। लोक-संस्कृति का जितना यथार्थ और प्रामाणिक चित्र प्राकृत-साहित्य में प्राप्त होता है उतना संस्कृत-साहित्य में नहीं। पुराणों में वर्णित अनेक तथ्यों को प्राकृत के प्रकाश में जाँचने की आवश्यकता है। प्राकृत-साहित्य जनता के अधिक

निकट रहा है। इसमें अनुभूति का अंश संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक है।

प्राकृत का मुख्य क्षेत्र जैन धर्म है और जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को प्रमुख देन है अहिंसा। अहिंसा की दार्शनिक व्याख्या प्राकृत में आरम्भ होती है। बाद में इसका विस्तार भारत-भर की भाषाओं और विचार-धाराओं में हो गया। प्राकृत-साहित्य की-सी मृदुता, सात्विकता, नैतिकता, आध्यात्मिकता तथा विचार-गम्भीरता के साथ-साथ रोचकता और लोक-प्रियता केवल 'रामायण' और 'महाभारत' में ही उपलब्ध होती है। और अब तो यह कल्पना उपस्थित की जा रही है कि ये दो महाकाव्य भी मूल में प्राकृत के रहे होंगे।

प्राकृत की साहित्यिक महिमा क्या है, इसकी चर्चा हम पुस्तक के अन्त में करेंगे; क्योंकि उसे ठीक-ठीक समझने के लिए पहले प्राकृत के साहित्य का परिचय पा लेना आवश्यक है।

: २ :

जैन आगम साहित्य

भारत के सांस्कृतिक इतिहास और विकास में जैन-साहित्य का महत्त्व-पूर्ण स्थान है। यह साहित्य संस्कृत में भी लिखा गया, पर इसका विशेष उत्थान प्राकृतों में हुआ। जिस प्रकार आधुनिक आर्य भाषाओं को साहित्यिक स्तर तक ले आने का श्रेय संतों और भक्त-कवियों को है, उसी प्रकार प्राचीन काल की जन-भाषाओं को बौद्ध और जैन गुरुओं ने उठाया—बौद्धों ने पालि को और जैनों ने प्राकृत तथा अपभ्रंश को। जैन-साहित्य तीन प्राकृतों में मिलता है—अर्धमागधी, जैन माहाराष्ट्री और जैन शौर-सेनी में। प्राचीनतम जैन रचनाएँ अर्धमागधी में थीं।

सिद्धान्त

भगवं च णं अद्धमगहीए भासाए धम्ममाइक्खई—भगवान् महावीर ने अर्धमागधी में अपना उपदेश दिया था। उन्होंने ही इसमें शौरसेनी माहाराष्ट्री के प्रयोग मिलाकर इसे सुगम और समर्थ भाषा बनाया था। उनकी शिष्य-परम्परा में धर्म-प्रचार के लिए इसीका व्यवहार होता था। महावीर जैन के उपदेशों का संग्रह उनके समसामयिक गणधर (शिष्य) श्री सुधर्मस्वामी ने किया। उनके निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष बाद, चन्द्र-गुप्त के राज्य-काल में, मगध देश में एक भीषण अकाल पड़ा; जो १२ वर्ष तक रहा। बहुत-से जैन साधु, अपने नेता भद्रबाहु के साथ, भिक्षा-निर्वाह

के लिए दक्षिण देशों को चले गए। इस उथल-पुथल में जैन आगम का संरक्षण कठिन हो गया। उत्तर भारत में साधु नियम-पालन में शिथिल हो गए और श्वेत वस्त्र धारण करने लगे। तभी से जैनमत के दो सम्प्रदाय हो गये—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दिगम्बर वे साधु थे जो भगवान् जैन, श्री सुधर्मस्वामी और भद्रबाहु की तरह नंगे रहते थे। उनकी धारणा रही है कि महावीर के मूल उपदेश अकाल के मुख में लुप्त हो गए हैं। श्वेताम्बरों का मत है कि आगमों का पाठ असंख्य 'वाचकों' को कंठस्थ रहता था। अकाल के बाद कई साधु दक्षिण से उत्तर को लौट आए थे। समय-समय पर आगमों का पाठ अक्षुण्ण रूप में पाने के प्रयत्न होते रहे। मुनि स्थूलभद्र के नेतृत्व में संघ की एक परिषद् पाटलिपुत्र में आमन्त्रित की गई और उसमें ११ अंग-ग्रन्थों का संकलन-सम्पादन किया गया। १२वाँ अंग भद्रबाहु के शिष्यों द्वारा नेपाल से प्राप्त किया गया। परन्तु इस संग्रह का भी लोप हो गया। संघ की दूसरी परिषद् मथुरा में स्कंदिलाचार्य की अध्यक्षता में हुई। इसमें 'माथुर वाचना' के नाम से आगमों का पुनरुद्धार किया गया। पाँचवीं शती के अन्त में एक और अकाल पड़ा और यह वाचना भी अकालग्रस्त हो गई। तीसरी परिषद् वल्लभीपुर (काठियावाड़) में देवर्धिगणि के संरक्षण में हुई। अब जो संग्रह सम्पादित किया गया उसकी सैंकड़ों प्रतियाँ ली गईं और बड़े-बड़े नगरों में सुरक्षित की गईं।

विद्वानों का मत है कि वर्तमान आगमों की भाषा भगवान् महावीर की भाषा नहीं रह गई। जैन मुनि अनेक प्रदेशों से आकर परिषदों में सम्मिलित होते थे और वे उन-उन प्रदेशों की भाषाओं से प्रभावित थे। महावीर के निर्वाण से वल्लभी-वाचना तक एक हजार वर्ष का दीर्घ समय है। इस बीच में मूल भाषा ने कई सम्मिश्रण, कई परिवर्तन और कई प्रभाव ग्रहण किये होंगे। यही कारण है कि आगमों में परस्पर, एक ही ग्रंथ के भिन्न-भिन्न अंशों में और कभी-कभी एक ही वाक्य में भाषा और शैली का भेद सुस्पष्ट दिखाई देता है।

आगमों को 'सिद्धान्त' अथवा 'श्रुत' भी कहते हैं। सिद्धान्त के प्रत्येक

ग्रन्थ को 'सूत्र' कहते हैं। वल्लभी-परिषद् ने ४६ ग्रन्थों का सम्पादन किया। इनमें १२ अंग, १२ उवंग (उपांग), ६ छेयासुत्त (छेदसूत्र), ४ मूलसुत्त (मूल सूत्र), १० पइण्ण (प्रकीर्ण) तथा २ चूलिआ सुत्त (चूलिका सूत्र) थे। किसी-किसी ने सूत्रों की संख्या ५५ और किसी-किसी ने ८४ मानी है। ये प्रायः देवनागरी लिपि ही में हैं। ग्रन्थ सूत्र-शैली में हैं और इनका विषय दार्शनिक और सैद्धान्तिक है। पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है। परन्तु कहीं-कहीं दृष्टान्तों, गद्यमय कथाओं और छन्दोबद्ध उपदेशों में अनेक साहित्यिक गुण मिल जाते हैं। कहीं-कहीं शैली अति सरल, छन्द मधुर और गेय तथा भाव काव्य-गुण-सम्पन्न हो गए हैं। हम इन ग्रन्थों के साहित्यिक पक्ष पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

अंग

अंग १२ हैं। प्रथम अंग का नाम 'आयारंग-सुत्त' (आचारांग-सूत्र) है। इसमें जैन-मुनियों के आचार-व्यवहार के नियम बतलाये गए हैं। इसमें दो श्रुतस्कन्ध (खंड) हैं। प्रथम खंड प्राचीन और अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इसमें गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कृच्छ् व्रतों का पालन करने की प्रेरणा करते हुए भगवान् महावीर का दृष्टान्त सामने रखा गया। कितनी प्रभावपूर्ण और विशद शैली में वर्णन है :

"वे नंगे बदन भटकते थे। लोग उन्हें मारते, चिढ़ाते, पर वे बराबर ध्यानमग्न रहते। लाढ के निवासियों ने उन्हें सताया, उन पर कुते छोड़ दिये, उन्हें लाठियों और घूँसों से पीटा, उन पर फल-ढेले-पत्थर फेंके, उन्हें अनेक यातनाएँ दीं। लेकिन रणवीर की तरह महावीर अटल रहे। घायल होकर भी उन्होंने ओषधि नहीं चाही, तन-बदन की परवाह नहीं की। सरदियों में छाया में और गरमियों में कड़ी धूप में बैठकर तपस्या की। प्रायः महीनों पानी नहीं पिया, छठे-आठवें-दसवें दिन कभी खाना खाया और ध्यान में निरन्तर लगे रहे।" इस प्रकार के महावीर की सहिष्णुता के वर्णन जगह-जगह दिये गए हैं।

दूसरा अंग 'चूला' (परिशिष्ट) के रूप में है । इसमें भिक्षा, पर्यटन, भाषण आदि के संबंध में नियम हैं । भाषा गद्यमय है ।

इस अंग में कुल २५५४ ग्रन्थाग्र (३०६४८ शब्द) हैं ।

दूसरा अंग, 'सूयगडंग' (सूत्रकटाङ्ग) भी दो खंडों में विभाजित है, जिनमें दूसरा परिशिष्ट-सा है । पहला खंड, जो अधिक प्राचीन है, पद्य में है और दूसरा, एक अध्याय को छोड़कर, गद्य में है । कुल मिलाकर २३०० ग्रन्थाग्र (२७६००) शब्द हैं । इसमें जैनधर्म की व्याख्या करते हुए बौद्ध और ब्राह्मण मतों का निर्भीक शैली में खण्डन किया गया है । उदाहरणार्थ, ब्राह्मण मान्यता पर आक्षेप करते हुए लिखा है :

"यदि आचमन करने से मुक्ति मिलती है तो मछलियों, कछुओं और साँपों को परम मुक्ति मिलेगी । यदि जल से पाप धुल जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि साथ ही में पुण्य भी क्यों नहीं धुल जाते । ब्राह्मण कहते हैं कि नित्य अग्नि जलाने से मुक्ति प्राप्त होती है, तब तो लुहार और दूसरे कारीगर मुक्त ही समझो ।"

साधुओं को स्त्रियों के जाल से सावधान करते हुए कहा है :

"वे पुरुष से अपनी मनमानी कराती हैं, जैसे कुम्हार चक्कर घुमाता है, जैसे हिरण जाल में फँस जाता है और फिर प्रयत्न करने पर भी निकल नहीं सकता । तत्पश्चात् वह उस व्यक्ति की तरह पछताता है जिसने दूध में विष पी लिया हो ।" "जब साधु इस व्रत का उल्लंघन करता है और उनके काम-जाल में फँस जाता है तो वे उसे पाँव से उठाकर सिर के बल पटकती हैं । जब वे उसे वश में कर लेती हैं तो उससे कई तरह के काम लेती हैं, जैसे यह कमण्डल बना दो, वह फल ला दो, तरकारी बनाने के लिए लकड़ी लाओ, आग जलाओ, मेरे पाँव में मेंहदी लगाओ, मेरी पीठ सहलाओ······ । गर्भवती स्त्रियाँ अपने पतियों से दासों का-सा काम लेती हैं । जब बच्चा पैदा होता है तो उनसे ऊँटों का-सा काम लेती हैं । रात को जब बच्चा जग जाय तो उनसे धाय का काम लेती हैं और समय पर उन्हें धोबी बना

लेती हैं।"

भाषा और भावों की दृष्टि से उपर्युक्त दो अंग बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें से बड़ी सुन्दर और नवीन उपमाएँ संगृहीत की जा सकती हैं।

तीसरा और चौथा अंग साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। तीसरे अर्थात् 'ठाणांग' (स्थानाङ्ग) में संख्या-क्रम से एक से दस तक गिनकर लौकिक वस्तुओं के व्यपदेश से धर्म की बातें वर्णित की गई हैं, जैसे, चार प्रकार के टोकरे होते हैं, चार प्रकार के गुरु भी। चार प्रकार की मछलियाँ होती हैं, साधु भी। इसी क्रम से अध्यायों के नाम हैं और कुल दस अध्याय हैं, जिन्हें 'स्थान' कहते हैं। इसमें बारहवें अंग की विषय-सूची भी दी गई है। ग्रन्थ गद्य में है। चौथा अंग, 'समवायांग' तीसरे अंग के समान है। इसमें पदार्थों की गिनती १०० से ऊपर चली गई है।

पाँचवाँ अंग 'वियाह-पण्णत्ती' (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) है, जिसे 'भगवती-सूत्र' भी कहते हैं। इसमें ४१ शतक, १५७५० ग्रन्थाग्र (१८६००० शब्द) हैं। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टियों से इस ग्रन्थ का विशेष आदर और महत्त्व है। इसमें पार्श्वनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थङ्करों की जीवन-घटनाएँ, विरोधी सम्प्रदायों का वृत्तान्त, अर्हतों और भगवतों के स्वर्ग-सुख का वर्णन बहुत काव्यात्मक ढंग से हुआ है। वर्णन-शैली बड़ी सुन्दर और प्रभावोत्पादक है। उदाहरणों, दृष्टान्तों, उपमाओं और रूपकों के द्वारा गम्भीर-से-गम्भीर विषयों को विशदता से समझाया गया है। एक प्र ंग यहाँ उद्धृत किया जाता है :

उसभदत्त और उसकी पत्नी देवाणंदा भगवान् के दर्शनार्थ आई। देवाणंदा के स्तनों से दूध बहने लग पड़ा, आँखों में आँसू भर आए, भुजाएँ फड़कने लगीं, चोली फैल गई, शरीर में रोमांच होने लगा और उसकी दशा ऐसी हो गई जैसी वर्षा में कदम्ब की होती है। वह महावीर की ओर टकटकी बाँधकर देखती रही। तब गौतम ने पूछा—'स्वामिन्, यह स्त्री आपको इस प्रकार टकटकी लगाये क्यों देख रही है?' भगवान्

ने कहा—'गौतम, यह मेरी माँ है, मैं इसका बेटा हूँ। इसीलिए इसकी यह दशा है'।"

छठे अंग का नाम 'णायाधम्मकहाओ' (न्यायधर्मकथा अथवा ज्ञाता-धर्मकथा है। ज्ञाता का अर्थ है उपमा, उदाहरण, दृष्टान्त। इस ग्रन्थ में उदाहरणों तथा कथाओं द्वारा धर्म के तत्त्व समझाये गए हैं और उनके स्पष्टीकरण के लिए कथाएँ दी गई हैं। पहले में २१ वर्गों के अन्तर्गत नीति-कथाएँ और दूसरे में १० वर्गों के अन्तर्गत धर्म-कथाएँ हैं। ग्रन्थाग्रों की कुल संख्या ५,३७५ है; जिनमें ६४५०० शब्द हैं। इस अंग की कथा-शैली अत्यन्त रोचक, मार्मिक और साहित्यिक है। कथाएँ भी कई प्रकार की हैं—परी लोक की, यात्रा-सम्बन्धी, साहसिक, धार्मिक। कुछ-एक तो उपन्यास-सी लगती हैं। एक कथा-संक्षेप यहाँ दिया जाता है।

मिथिला के राजा की एक अद्भुत सुन्दर कन्या थी, जिसका नाम मल्ली था। छः राजकुमार अनेक साधनों से—चित्र-दर्शन, स्वप्न-दर्शन, कथा-श्रवण आदि से—उसके सौन्दर्य पर मोहित हो जाते हैं। वे मिथिला पहुँचते हैं, लेकिन राजा उन्हें पसन्द नहीं करते। वे मिलकर राजा पर आक्रमण कर देते हैं। तब मल्ली अपने पिता को सलाह देती है कि इन्हें एक-एक करके मेरे पास भेजो। वह एक मोहन-गृह तैयार करवाती है। उसमें अपनी प्रतिमूर्त्ति बनवाकर रखती है, जिसके सिर पर सूराख रखा जाता है। उस सूराख में से वह प्रतिदिन अपनी जूठन छोड़ती रहती है और सूराख का मुँह कमल के फूल से ढक देती है। एक-एक करके राजकुमार आते हैं। जब वे प्रति-मूर्ति के सौंदर्य का पान करते अघाते नहीं दिखते तो वह स्वयं सामने आकर सूराख खोल देती है। सड़ाँध से वे नाक-भौंह चढ़ाते हैं, तो वह कहती है—"सुन्दर मूर्ति के भीतर न जाने क्या-क्या गन्दगी पड़ी रहती है। मेरी भी यही दशा समझो।" तब वह उन्हें अपने पूर्व जन्मों की कथाएँ सुनाती है और घोषित करती है कि मैंने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया है। वे राजकुमार भी साधु हो जाते हैं।

१६वें अध्याय में द्रौपदी की कथा है और यह बताया गया है कि

उसने कब और क्यों यह संकल्प किया था कि मेरे पाँच पति हों।

सातवें अंग, 'उवासगदसाओ' (उपासकदशा), में भगवान् महावीर के १० प्रमुख उपासक (गृहस्थ) शिष्यों की कथाएँ हैं और गृहस्थों के पालन करने योग्य आचार-नियमों की व्याख्या है। कथाएँ बँधे-बँधाए ढंग की हैं और सद्दालपुत्त नामी कुम्हार की कहानी को छोड़कर, इनमें कोई साहित्यिकता नहीं है।

आठवें अंग, 'अन्तगडदसाओ' (अन्तकृद्दशाः), में उन तपस्वी स्त्री-पुरुषों की कथाएँ हैं जिन्होंने अपने कर्मों का अन्त करके मोक्ष प्राप्त किया है। इसमें कृष्ण कथानक भी आया है।

नौवाँ अंग अणुत्तरोव-वाइअदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशाः) नाम से है। इसमें दस महात्माओं की कथाएँ हैं, जिन्हें निर्वाण तो प्राप्त नहीं हो सका पर अनुत्तर नाम के स्वर्ग की गति मिल गई। इन दोनों अंगों की वर्णन-शैली बड़ी शिथिल और भाषा बोझिल है।

दसवें अंग का 'नाम पण्हावागरणाइम्' (प्रश्नव्याकरणानि) है। ग्रन्थ का विभाजन १० द्वारों में हुआ है—पाँच आश्रवद्वार और पाँच सँवर द्वार। इसमें पाँच व्रतों, कर्मों और गुणों का व्याकरण (विश्लेषण) दिया गया है। ग्यारहवें अंग, विवागसुयम् (विपाकश्रुतम्) में शुभ और अशुभ कर्मों का विपाक (फल) बताया गया है।

उक्त चार अंगों में साहित्यिक महत्त्व की बातें बहुत कम हैं।

१२वाँ अंग 'दिट्ठिवारा' (दृष्टिवादः) लुप्त हो चुका है। वल्लभी-वाचना में इसका संकलन नहीं हो पाया। अन्य स्रोतों से विदित होता है कि इसमें जैनेतर धर्मों का खण्डन और तीर्थंकरों तथा अन्य महापुरुषों की कथाएँ संगृहीत हैं।

उपांग

१२ अंगों के १२ उपांग हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि एक-एक उपांग का एक-एक अंग से सीधा या पूरा सम्बन्ध हो। साहित्यिक दृष्टि से उपांग इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं; जितने कि अंग।

पहला उपांग 'ओववाइयम्' (औपपातिकम्) नाम से है। इसमें महावीर स्वामी के पुण्णभद्द विहार में जाकर कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में उपदेश करने की कथा है। अन्त में, मृत्यु के पश्चात् विविध स्त्री-पुरुषों की क्या दशा होती है, इस विषय पर किये गए गौतम इन्द्रभूति के प्रश्नों के उत्तर हैं। प्रसंगवश तापस, परिव्राजक, भिक्षु आदि के आचार-व्यवहार का वर्णन है। राजा, रानी, नगर, चैत्य आदि का वर्णन सुन्दर है।

दूसरा उपांग, 'रायपसेणियम्' (राजप्रश्नीयम्), साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके आरम्भ में देव सरियाम की मोक्ष-प्राप्ति की कथा है। बाद में राजा पएसी (प्रदेशी) तथा मुनि केसी के बीच में आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता पर एक मनोहर और सरस वार्तालाप है।

तीसरा और चौथा उपांग भी प्रश्नोत्तरी के रूप में है। तीसरे अर्थात् 'जीवाजीवाभिगम' में जीव और अजीव की चर्चा है। सृष्टि-वर्णन में द्वीपों और सागरों का वर्णन करते हुए जम्बुद्वीप का वृत्तान्त भी दिया गया है। चौथे उपांग, 'पण्णवणा' (प्रज्ञापना) में जीव के सम्बन्ध की विशिष्ट जानकारी है। जीवों में मनुष्यों के अन्तर्गत आर्यों और म्लेच्छों के सम्बन्ध की चर्चा बड़ी रोचक है।

पाँचवें उपांग का विषय उसके नाम, 'जम्बुद्दीवपण्णत्ती' (जम्बुद्वीप-प्रज्ञप्तिः), से ही स्पष्ट है। इसमें जैनों का पौराणिक भूगोल है। भारतवर्ष का वर्णन करते हुए भारत की कथा का अधिक विस्तार किया गया है।

छठा उपांग 'चन्दपण्णती' (चन्द्रप्रज्ञप्तिः) और सातवाँ 'सूरियपण्णत्ती' (सूर्यप्रज्ञप्तिः) है। ये दोनों ज्योतिष ग्रन्थ हैं, जिनमें सूर्य, चन्द्रमा, तारा और नक्षत्र आदि के परस्पर सम्बन्ध, दिन-रात के कारण, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि अनेक विषयों की व्याख्या दी गई है।

इनके सिद्धान्त पुराणों से मिलते हैं।

आठवें उपांग, 'कप्पियाओ' (कल्पिकाः) में अजातशत्रु के दस सौतेले भाइयों और उनके नाना वैशाली-नरेश चेडग के बीच हुए युद्धों का वर्णन है, जिसके अन्त में वे नरक में डाल दिये गए। जैन-परम्परा में अजात-

शत्रु का चरित्र अच्छा माना गया है। नौवें उपांग, कप्पावडांसआओ (कल्पावतंसकाः) में इन्हीं नरकगत राजकुमारों के पुत्रों की कथाएँ हैं जिन्हें सत्कर्मों के कारण स्वर्ग प्राप्त हुआ।

दसवें उपांग का नाम पुष्फियाओ (पुष्पिकाः) और ग्यारहवें का पुप्फचूलाओ (पुष्पचूलाः) है। इनमें महावीर की पूजा के लिए पुष्पक विमानों पर आने वाले देवी-देवताओं के पूर्व जन्मों की कथाएँ हैं। अन्तिम उपांग, वह्निदशाओ (वृष्णिदशाः) में अरिष्टनेमि द्वारा वृष्णिकुमारों की जैन धर्म में दीक्षित होने की कथाएँ वर्णित हैं।

छेदसूत्र

छेद का अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया। जैन परिभाषा में यह एक प्रकार की तपस्या का नाम प्रतीत होता है। छेदसूत्रों के नाम ये हैं—१. 'निसीह' (निशीथ), २. 'महानिसीह' (महानिशीथ), ३. 'ववहार' (व्यवहार), ४. 'आयारदसाओ' (आचारदशाः), ५. 'कप्पसुत्त' (कल्पसूत्र) तथा ६. 'पंचकप्प' (पंचकल्प) अथवा 'जीयकप्प' (जीतकल्प)। इनमें तीसरा, चौथा और पाँचवाँ सूत्र प्राचीन है। चौथा सूत्र भद्रबाहु की कृति बताया जाता है, जिनका निर्वाण-काल महावीर के १७० वर्ष बाद माना गया है। इसमें महावीर और अन्य तीर्थंकरों तथा गणधरों की कथाएँ वर्णित हैं। 'जनचरित' नाम के अध्याय में कहा गया है कि महावीर पहले देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में और फिर त्रिशला रानी के गर्भ में रखे गए थे। शैली संस्कृत-गद्य-काव्यों की भाँति समास-बहुला है। पाँचवें छेदसूत्र में साधुओं के वर्षा-काल-सम्बन्धी नियम हैं। इसीलिए इसे 'पर्यूषण कल्प' भी कहते हैं। पर्यूषण के दिनों में साधु इसे श्रावकों को सुनाते हैं। श्वेताम्बर जैनों मे 'कल्पसूत्र' बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पहले और तीसरे सूत्र में आचार-नियमों को भंग करने के दण्ड और प्रायश्चित्त हैं। दूसरे और छठे सूत्रों का विषय भी यही था, पर वे ग्रन्थ लुप्त हो गए हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि जैन मुनि इन्हें गुप्त रखते हैं और भिक्षु-समुदाय के बाहर किसी को दिखाते तक नहीं।

मूलसूत्र

सम्भवतः इन्हें मूलसूत्र इसलिए कहते हैं कि जैन साधु इनका पाठ सबसे पहले करते हैं। ये सूत्र चार हैं—१. 'उत्तरज्झयण' (उत्तराध्ययन), २. 'आवस्सय' (आवश्यक), ३. 'दसवेयालिय' (दशवैकालिक) तथा ४. 'पिण्डनिज्जुत्ती' (पिण्डनिर्युक्ति)। अन्तिम में महाव्रत, प्रतिक्रमण, अनुशासन आदि धार्मिक कृत्यों की चर्चा है। प्रथम तीन का महत्त्व धार्मिक और साहित्यिक दोनों दृष्टियों से है। उत्तराध्ययन में अतिरम्य दृष्टान्त, कथाएँ, उपमाएँ, वार्तालाप, सूक्तियाँ और मुहावरे हैं। धार्मिक विषयों और विधि-निषेधों की व्याख्या बड़े साहित्यिक ढंग से की गई है। उदाहरण—

जिस प्रकार सेंध पर पकड़ा गया चोर अपने ही पाप से नष्ट होता है, उसी प्रकार लोगों को इहलोक में और परलोक में अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। जिस प्रकार एक रथवान अपनी गाड़ी को राज-मार्ग पर न ले जाकर ऊबड़-खाबड़ में ले जाने पर धुरी तोड़ बैठता है और पछताता है, उसी प्रकार मूर्ख लोग धर्म का उल्लंघन करने और पाप-कर्म करने पर मृत्यु के समय पछताते हैं।

शौर्यपुर में दो राजकुमार रहते थे। एक का नाम वासुदेव था, दूसरे का समुद्रविजय। समुद्रविजय के दो पुत्र थे—रथनेमि और अरिष्टनेमि। अरिष्टनेमि का विवाह राजीमती नाम की एक राजकुमारी से होने जा रहा था। वह सजधज के साथ विवाह करने चला। रास्ते में उसने कई जीव पिंजरों और बाड़ों में बन्द देखे। पूछने पर मालूम हुआ कि ये जीव विवाह-भोज के लिए पकड़े गए हैं। उसे बड़ा दुःख हुआ और उसने साधु बनने का निश्चय कर लिया। जब राजीमती को यह समाचार मिला तो उसने भी संन्यास ग्रहण किया। एक बार फिरते-फिराते वह वर्षा में भीगने लगी। पास में एक गुहा थी, उसने उसीमें शरण ली। एकान्त पाकर उसने भीगे कपड़े सुखाने के लिए उतारे। लेकिन अरिष्टनेमि पहले से इस गुहा में बैठा तपस्या कर रहा था। राजीमती को इस अवस्था में देखकर वह काममत्त हो गया और उसकी ओर बढ़ा। राजीमती ने कड़े शब्दों

में उसकी भर्त्सना की और साधु-वेश की घोर निन्दा की। अंकुश से दमन किये गए हाथी की तरह वह पुनः अपने धर्म में प्रत्यावर्तित हुआ।

'उत्तरज्झयण सुत्त' की शैली बौद्ध धम्मपद और जातकों से मिलती-जुलती है। अध्याय-संख्या ३६ है।

दूसरे मूलसूत्र में छः अध्यायों के अन्तर्गत जैनों के आवश्यक कर्तव्य और उनकी व्याख्या में अनेक कथानक दिये गए हैं। 'दसवेयालिय सुत्त' में आचारांग पर आधारित नियम हैं। इसमें दस अध्याय हैं, कुछ गद्य में और कुछ पद्य में। कहीं-कहीं उपमाएँ और रूपक अत्युत्तम और मार्मिक हैं। चौथे मूलसूत्र में भिक्षुओं के आचारों, व्रतों और पश्चात्तापों का वर्णन है।

प्रकीर्णक ग्रन्थ

प्रकीर्णक ग्रन्थ एक प्रकार के परिशिष्ट हैं, जो प्रायः पद्यमय हैं और विविध विषयों का प्रतिपादन करते हैं। इस तरह के १० ग्रन्थ हैं। इनमें साधु-जीवन पर प्रकाश डाला गया है। अनेक दृष्टान्तों और कथानकों द्वारा अहिंसा की व्याख्या की गई है। साहित्यिक महत्त्व के स्थल बहुत कम हैं। प्रथम प्रकीर्णक 'चतुःशरण' में अर्हत्, सिद्ध, साधु और धर्म— इन चार की शरण लेने का उपदेश है। इसके कर्ता वीरभद्रगणि माने गए हैं। पद्य-संख्या ६३ है। दूसरा प्रकीर्णक 'भक्त-परिज्ञा' नाम से है, जिसके १७२ पद्यों में साधक को भोजन त्यागने की विधियाँ बताई गई हैं। तीसरे प्रकीर्णक 'संस्तारक' में १२२ पद्य हैं। जब भिक्षु यह देखता है कि अब मेरा शरीर अति क्षीण हो गया है और धर्म-कृत्य करने में समर्थ नहीं रहा, तो वह संहतारक (संथारा, तृण का आसन) लेकर बैठ जाता है और मरणपर्यन्त अन्न-जल ग्रहण नहीं करता। चौथे प्रकीर्णक 'आतुर प्रत्याख्यान' का विषय अपने नाम से स्पष्ट है। इसमें रोगी भिक्षु को भोजन, औषधि आदि के त्याग की विधि और प्राकृतिक चिकित्सा की रीति बताई गई है। पद्यों की संख्या ४०० है। 'महाप्रत्याख्यान' में साधक को अन्न-जल त्यागकर मरने की विधि बताई गई है। इसमें १४३ पद्य

हैं। छठे प्रकीर्णक 'तंदुल-वैतालिक' अथवा 'वैचारिक' (गद्य-पद्य), में कुछ आयुर्वैदिक और शरीर-रचना-सम्बन्धी व्याख्याएँ हैं। महावीर और गौतम के वार्तालाप द्वारा शरीर-रचना, गर्भपिण्ड, मनुष्यायु के दस भाग, अस्थि और स्नायु आदि विषयों पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। सातवें प्रकीर्णक 'चन्द्रवेध्यक' के १७४ पद्यों में गुरु-शिष्य के परस्पर व्यवहार का वर्णन है। ८वें प्रकीर्णक का नाम 'देवेन्द्रस्तव' (३०० पद्य), और दसवें का 'वीरस्तव' (४३ पद्य) हैं। इनमें क्रमशः इन्द्रों और महावीर स्वामी का वर्णन है। जैन-स्तोत्रों का प्रारम्भ इन्हींसे होता है। नौवें प्रकीर्णक 'गणित-विद्या' (८६ पद्य) में गणित ज्योतिष पर विचार किया गया है।

चूलिका सूत्र

चूलिका सुत्त दो हैं—'नन्दी सूत्र' और 'अणुओगदार (अनुयोगद्वार) सूत्र'। ये जैन-धर्म और साहित्य के ज्ञान-कोश माने गए हैं। इनमें २४ तीर्थंकरों और ११ गणधरों के उल्लेख के अतिरिक्त धार्मिक और लौकिक विज्ञान की जानकारी प्रचुर मात्रा में है। 'नन्दी' एक प्रकार का मंगलाचरण सूत्र है, जिसे देवर्द्धि गणि ने 'वल्लभी-वाचना' का सम्पादन करते समय रचा। इसमें तीर्थंकरों, गणधरों और गुरुओं की स्तुतियाँ हैं। 'अनुयोगद्वार' में अन्य विषयों के अतिरिक्त न्याय, व्याकरणादि के कतिपय सिद्धान्त भी वर्णित हैं।

अर्द्धमागधी साहित्य का रचना-काल ३०० ई० से ६०० ई० तक माना जा सकता है। हर्ष के राज्य-काल के उपरान्त अर्द्धमागधी का प्रयोग नहीं हुआ। संस्कृत और माहाराष्ट्री प्राकृत का जैन-साहित्य बराबर विकसित होता रहा। परम्परा को मानने वाले भले ही 'सिद्धान्त' को महावीर स्वामी की वाणी के रूप में स्वीकार करें, पर उपलब्ध सिद्धान्त की भाषा इतनी पुरानी नहीं है। दिगम्बर जैन १२ अंगों और १४ प्रकीर्णकों को भगवान् का उपदेश मानते हैं, पर उनकी धारणा है कि वे नष्ट हो गए थे।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपदेशों का भावार्थ सुरक्षित रह गया होगा, पर भाषा में अवश्य परिवर्तन आ गए थे। इस बात की चर्चा पहले की जा चुकी है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'सिद्धान्त' ग्रन्थ एक लेखक की कृति नहीं हैं। कुछ के लेखकों का तो नाम भी ग्रन्थ के साथ मिलता है। चतुर्थ उपांग के कर्ता अज्ज साम, 'जीतकल्प' के रचयिता जिनभद्र, 'कल्प' के भद्रबाहु और 'नन्दि सूत्र' के देवर्द्धि माने गए हैं। अन्य सूत्रों के भी भिन्न-भिन्न रचयिता, वाचक और सम्पादक रहे हैं। उनकी व्यक्तिगत भाषा के प्रभाव से इनका बचा रहना सम्भव नहीं जान पड़ता। इसी कारण इन ग्रन्थों की अर्द्धमागधी में कई स्तर, कई रूप और कई सम्मिश्रण देखे जा सकते हैं।

नीचे अर्धमागधी-साहित्य से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं ताकि पाठक उसकी प्रकृति और भाव-शैली की पहचान स्वयं कर सकें। अनुवाद प्राकृत की वाक्य-रचना के क्रमानुसार दिया जा रहा है :

[१]

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणे॥

उत्कृष्ट और मंगलमय धर्म है अहिंसा, संयम और तप। देवता भी उसको नमस्कार करते हैं, जिसके मन में सदा ऐसा धर्म है।

[२]

जह मिउलेवालित्तं, गरुये तुवं अहो वयइ एवं।
आसवकायकम्मगुरु जीवा, वच्चंति अहरगइं॥

जैसे मिट्टी से लिप्त तूँबा भारी होकर डूब जाता है, उसी प्रकार आश्रव कर्मों से भारी हुआ-हुआ जीव अधोगति को प्राप्त होता है।

[३]

जहा सूई ससुत्ता, पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥

जैसे सूत के साथ सुई गिर पड़ने पर भी खो नहीं जाती, ऐसे ही श्रुत-

ज्ञान-सहित जीव संसार में विनष्ट नहीं होता।

[४]

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु, समं माणवमाणओ॥

(महापुरुष वह है) जो लाभालाभ में, सुख-दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा और प्रशंसा में तथा मान-अपमान में समभाव हो।

[५]

दुल्लहाउ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सोग्गाइं॥

स्वार्थ-रहित देने वाला दुर्लभ है, स्वार्थ-रहित जीवन-निर्वाह करने वाला भी दुर्लभ है। स्वार्थ-रहित देने वाला और स्वार्थ-रहित होकर जीने वाला दोनों ही स्वर्ग को जाते हैं।

[६]

न वि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेण, कुसचीरेण, न तावसो॥
समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥

मूँड मुँडाने से कोई श्रमण नहीं हो जाता, ओंकार-जप से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। अरण्य-वास से कोई मुनि नहीं हो जाता और कुशा-चीर पहनने से कोई तपस्वी नहीं हो जाता। समभाव से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि होता है, एवं तप करने से तपस्वी होता है।

[७]

जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एवमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खम्मो निवासो॥

जैसे बिड़ाल के रहने के स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है,

उसी प्रकार स्त्रियों के निवास-स्थान के बीच में ब्रह्मचारियों का रहना क्षम्य नहीं है।

[८]

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय नासिणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोमो सव्व विणासणो॥

क्रोध प्रीति को प्रणष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, कपट मित्रों का नाश करता है और लोभ सब-कुछ विनष्ट कर देता है।

[९]

मुहुत्तदुक्खाउ हवंति कंटया
अओमया, ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि
वेराणुवंधीणि महब्भयाणि॥

मुहूर्त-मात्र दुःख होता है लोहे के काँटों से, वे भी (शरीर से) सुगमता से निकाले जा सकते हैं। परन्तु वे कटु वचन कठिनाई से निकलते हैं, जो वैर बढ़ाने और महाभय उत्पन्न करने के लिए बोले जायँ।

[१०]

संबुज्झह किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइउ, नो सुलभं पुणरवि जीवियं॥

समझो, क्यों नहीं समझते? परलोक में तो धर्म-प्राप्ति दुर्लभ होगी। बीती रातें नहीं लौटतीं और यह जीवन फिर-फिर सुलभ नहीं होगा।

[११]

विरए गाम धम्मेहिं, जे केई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए॥

सांसारिक धर्मों से विरत, जो कोई जगत् में विचरते हैं, उन्हें सबके साथ वही बर्ताव करना चाहिए जो वे (दूसरों से अपने प्रति) कराना चाहते हैं।

[१२]

गद्य का नमूना नीचे दिया जाता है :

इति से गुणट्ठी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते—माया मे पिया मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पहुसा मे सहि-सयण-संगंथ-संथुआ मे विचित्तोवगरण-परियट्टण-भोयणच्छायणं मे। इच्चत्थं गड्ढिए लोए अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठा-लोभी आलुम्पे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो, अप्पं च खलु आउयं इहमेगेसिं माणावाणं तं जहा।

जो गुणस्थ है वह महती पीड़ा से (आक्रान्त हो) पुनः-पुनः प्रमत्त हो जाता है। (क्योंकि वह सोचता है) मेरी माता, मेरा पिता, मेरी भार्या, मेरे पुत्र, मेरी पुत्रियाँ, मेरी पतोहू, मेरे सखा, निकट-दूर के बान्धव, संगी-साथी, मेरी विचित्र सम्पत्ति, लाभ, भोजन, छादन हैं। इन वस्तुओं में गृहस्थ लोग, दिन और रात परिताप करते हुए, काल-अकाल में कार्य करते हुए, धन और कोष का संचय करते हुए हजारों तरह से, अपने चित्त को पुनः-पुनः इनमें लगाते हैं। इस प्रकार आत्मा और आयु कम होती रहती है ऐसे मानवों की।

: ३ :

आगमेतर जैन साहित्य

सिद्धान्त में जैन-साहित्य के सभी बीज पाये जाते हैं, जो आगे चलकर विकसित होते रहे। जैनों ने प्राकृत में (और बाद में संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में) विविध साहित्य की सृष्टि की— स्तोत्र, उपदेश, नीति, निबन्ध, कथा, चरित, उपन्यास—जो गद्य और पद्य दोनों में विद्यमान है। श्वेताम्बर विद्वानों और त्यागी महात्माओं की सेवाएँ भारती, ज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में सदा स्मरणीय रहेंगी।

स्तोत्र

महावीर और प्राचीन जैन गुरुओं की स्तुति में बीसियों छोटे-छोटे ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गए। इनमें 'ऋषभपंचाशिका', 'अजियसन्तिथय' (अजित शान्ति-स्तव), 'महावीर-स्तव', 'पार्श्वजिन-स्तवन', 'शांतिनाथ-स्तवन' आदि प्रसिद्ध हैं। 'ऋषभ पंचाशिका' में धनपाल के ५० पद्य हैं, जिनकी शैली अलंकृत और साहित्यिक कोटि की है। कल्पना अच्छी है। रूपक सुन्दर हैं। उदाहरण :

जीवन एक समुद्र है, जिसमें ऋषभदेव नाव हैं। जीवन एक वन है, जिसमें विषय लुटेरे हैं, उनसे ऋषभ ही बचा सकते हैं। जीवन एक अज्ञान रात्रि है, ऋषभ सूर्य हैं।

अजित दूसरे तीर्थंकर थे, शान्तिनाथ १६वें। इनकी स्तुति नन्दिशेण-कृत 'अजियसन्तिथय' (६वीं शती) और वीरगणि-कृत 'अजियसन्तिथय'

(सन् १११० ई०) में की गई है। इन दोनों स्तोत्रों की भाषा प्रवाहपूर्ण और काव्यात्मक है।

'महावीर-स्तव' अलंकृत प्राकृत में लिखा गया है। इसमें एक-एक शब्द तीन-तीन बार प्रयुक्त हुआ है और तीन अलग-अलग अर्थ देता है।

धर्मवर्धन-कृत 'पार्श्वजिन-स्तवन' (सन् १२०० ई०) और जिनपद्म-रचित 'शान्तिनाथ-स्तवन' (लगभग १३२५ ई०) में छः-छः भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

इनके अतिरिक्त 'उवसग्गहर' (उपसर्गहर) और 'जयतिहुअण' (जय-त्रिभुवन) जैन माहाराष्ट्री में लिखे गए प्रसिद्ध स्तोत्र-संग्रह हैं। 'ऋषि-मंडल-स्तोत्र' में प्राचीन जैन मुनियों का संस्मरण है।

निबन्ध-साहित्य

प्राकृत के निबन्ध-साहित्य में प्रायः धार्मिक और दार्शनिक विषयों की चर्चा मिलती है। इसका आरंभ निज्जुत्तियों से होता है। निज्जुत्ति (निर्युक्ति) सिद्धान्त की संक्षिप्त और छन्दोबद्ध व्याख्या होती है। भद्रबाहु (३६५ ई० पू०) ने बहुत-से सिद्धान्त-ग्रंन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखीं, जिनमें से एक दर्जन के लगभग अब तक विद्यमान हैं। इनसे भाष्यों और चूर्णियों की रचना हुई, जिनके आधार पर आगे चलकर बहुत विशाल टीका-साहित्य विकसित हुआ। बाद में संस्कृत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। जैन आचार्यों की भी अधिकतर टीकाएँ और वृत्तियाँ संस्कृत में हैं। प्राकृत में देवेन्द्र-कृत 'उत्तरज्झयण' की टीका, शीलांक (८६२ ई०) की अनेक वृत्तियाँ, जिनप्रभसूरि-कृत 'तीर्थकल्प' (१३३१ई०) आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

सैद्धांतिक ग्रंन्थों में शिववर्म-कृत 'कर्मप्रकृति', चन्द्रर्षि-कृत 'पंचसंग्रह', सिद्धसेन-कृत 'सम्मति तर्क' और आचार्य हरिभद्र-कृत अनेक धर्म-ग्रन्थ गम्भीर अध्ययन के लिए उपयोगी हैं।

इन व्याख्या-ग्रंथों के अतिरिक्त जैन माहाराष्ट्री में प्रकरण, संग्रहणी,

क्षेत्रसमास, कर्मग्रंथ, जीवविचार, नवतत्त्व, समाचारी, विधि, प्रबंध आदि कई प्रकार के ग्रन्थ लिखे गए, जिनमें 'धर्मसंग्रहणी', 'व्याकरण-सूत्र' 'विशेषावश्यक','प्रवचनसारोद्धार', 'उपदेशपदटीका', 'उपदेशरहस्य' आदि में मध्य युग और उत्तर युग की माहाराष्ट्री के गद्य-पद्य के रूप सुरक्षित हैं। इनका अधिक वर्णन यहाँ पर अभीष्ट नहीं है।

दिगम्बर-जैन-साहित्य की भाषा शौरसेनी रही है। इसका प्राचीनतम रूप पुष्पदन्त और भूतबलि-कृत षट्खंडागम सूत्रों में उपलब्ध होता है। इनका प्रधान विषय कर्म-सिद्धान्त है। गुणधर आचार्य का 'काषायप्राभृत' भी प्रसिद्ध सूत्र-ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। रचना-काल विक्रम की दूसरी शताब्दी बताया जाता है। इनके अतिरिक्त बहुत-सी रचनाएँ पद्य में हैं। शिवार्य-कृत 'मूलाराधना' में तप, ज्ञान, चरित्र, दर्शन आदि अनेक विषयों का निरूपण किया गया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने ८४ पाहुडों की रचना की थी। इनमें 'पंचत्थियसार'(पञ्चास्तिकायसार), 'पवयणसार'(प्रवचनसार), 'समयसार' 'नियमसार''छप्पाहुड' (षट्प्राभृत) आदि १२-१३ ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं। इनका दिगम्बर जैन-सम्प्रदाय में बड़ा आदर और प्रचार है। इसी कोटि के ग्रन्थों में वट्टकेर कृत 'मूलाचार', वसुनन्दि-कृत 'श्रावकाचार', देवसेन-कृत 'दर्शनसार' और 'आराधनासार', शान्तिसूरि-कृत 'जीवविचार' आदि अनेक ग्रन्थ हैं। इनमें साहित्यिक महत्त्व तो अधिक नहीं है, परन्तु शौरसेनी के विद्यार्थियों, अन्वेषकों और ऐतिहासिकों को इनमें पारिभाषिक शब्दावली, धर्म-दर्शन-नीति एवं समाज-संस्कृति और इतिहास की प्रचुर सामग्री मिल जाती है।

कथा-साहित्य

जैसा कि पिछले अध्याय में वर्णित किया गया है, जैन-कथा-साहित्य के बीज आगमों में पाये जाते हैं। इसके बाद निर्युक्ति आदि व्याख्या-ग्रन्थों में छोटी-बड़ी सब तरह की कथाएँ मिलती हैं। धीरे-धीरे कथा-साहित्य स्वतन्त्र रूप में पल्लवित हुआ। इसके चार विभाग किये जा सकते हैं—

(१) उपदेश की पुष्टि और स्पष्टि के लिए कथाएँ—धर्म, आचार और नीति-सम्बन्धी सूक्तियाँ और औपदेशिक पद्यों की प्रधानता रहती है। कहीं-कहीं व्याख्या के लिए दृष्टान्त, कथानक, लघु कथाएँ आदि आ जाती हैं। धर्म-प्रचारक आज भी सर्वत्र इस शैली का व्यवहार करते हैं।

(२) आख्यायिकाएँ—जिनके अन्त में धार्मिक अथवा चारित्रिक शिक्षा रहती है। इसमें कथांश की प्रधानता रहती है।

पहले प्रकार में उपदेश देकर कथा कही जाती है, इस प्रकार में कथा कहकर उपदेश दिया जाता है और प्रसंगवश साथ-साथ शिक्षा देने का अवसर पा लिया जाता है।

(३) उपन्यास—इनमें मुख्य रूप से एक मूल प्रेम-कथा होती है और कुछ अवान्तर कथाएँ रास्ते में थोड़ा-थोड़ा साथ देकर समाप्त हो जाती हैं। ये वस्तुतः उपन्यास-शैली में धर्म-कथाएँ हैं। विंटरनिट्स ने इन्हें धार्मिक उपन्यास कहा है। प्रायः कहानियाँ शृंगार, करुण आदि रसों से परिपूर्ण होती हैं, अन्त में शांत रस रहता है। अन्त सुखमय होता है और नायक-नायिका का मिलन होकर जैन-धर्म में प्रवेश होता है। संस्कृत में जो प्रेम-कथाएँ मिलती हैं वे प्राकृत-कथाओं के बाद की हैं।

(४) चरित—भारत में चरित-काव्यों का प्रारम्भ जैन-साहित्य से होता है। इस साहित्य में सर्वप्रथम स्थान 'शलाका-पुरुष'-चरितों का है। शलाका-पुरुष से तात्पर्य उत्तम अथवा महापुरुष है, जिनकी संख्या ६३ मानी गई है—अर्थात् २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव। तीर्थंकरों में से विशेषकर ऋषभ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, मल्लिनाथ, सुमतिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के जीवन पर पृथक्-पृथक् काव्य-ग्रन्थ हैं। चक्रवर्तियों में भरत और सनत्कुमार तथा वासुदेवों (अर्द्धचक्रवर्तियों) में राम तथा कृष्ण भिन्न-भिन्न चरित-काव्यों के नायक हैं। बलदेव, जो वासुदेवों के भाई हैं, और प्रतिवासुदेव, जिनसे वासु-देवों का युद्ध होता है चरित-संग्रहों में वर्णित हुए हैं। सब तीर्थंकरों के जीवन-चरित का एक ही उद्देश्य है—धर्म और अहिंसा की स्थापना,

अज्ञान का नाश और सत्य का प्रचार। चक्रवर्ती दिग्विजय के उपरान्त अहिंसा-व्रत धारण करते हैं और चिर-तपस्या के उपरान्त मोक्ष को प्राप्त होते हैं। वासुदेव अहिंसा के प्रचारक हैं, प्रतिवासुदेव हिंसा के। अहिंसा की हिंसा पर विजय होती है। वासुदेव स्वर्ग में जाते हैं और प्रतिवासुदेव नरक में। बलदेव वासुदेवों के भाई हैं। वे अहिंसा में योग देते हैं और अन्त में जैनधर्म ग्रहण करके स्वर्ग के अधिकारी बनते हैं।

इन शलाका-पुरुषों के अतिरिक्त नमि-विनमि आदि विद्याधरों, पुण्ड-रीक आदि यतियों, ब्राह्मी सुन्दरी आदि सतियों, मुनियों, दानियों, सेठों, राजा-रानियों और राजपुत्रों आदि के चरित भी मिलते हैं। चोरों-जुआ-रियों, धूर्तों, दरिद्रों, गणिकाओं, पापियों और लुटेरों के जीवन का चित्रण भी किया गया है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के कथा-काव्यों में प्रायः पात्रों के पूर्व जन्मों का वर्णन दिया गया है, जिससे कर्म का फल जाना जा सके। स्थल-स्थल पर धर्म के तत्त्व समझाये गए हैं। विविध व्रतों का फल कथा के पात्रों को दिलाया जाता है। अहिंसा का फल सुख और हिंसा का दुःख है। मारने वाला नरक में और मरने वाला स्वर्ग में जाता है। प्रायः कथाओं के अंत में मुख्य पात्र दीक्षा लेकर मोक्ष और स्वर्ग के अधिकारी होते हैं और कुछ पात्र अपने खोटे कर्मों के कारण सर्प, सूअर, कुत्ते, चांडाल आदि की नीच योनियों में जाते हैं।

कहानियाँ प्रायः रोचक, प्रभावोत्पादक और साहित्यिक हैं। अनेक स्थानों पर मानव और मानवेतर प्रकृति के वर्णन बड़े सुन्दर और कवित्व-पूर्ण हैं। अनेक रसों का निर्वाह सफलता के साथ किया गया है। अधि-कांश की भाषा प्रांजल और गठी हुई है। माहाराष्ट्री का प्रयोग अधिक है। कहीं-कहीं शौरसेनी का छिटकाव मिल जाता है। अधिकतर काव्यों में पद्य की प्रधानता है, कुछ-एक में गद्य की। वर्णन, उपदेश, काव्यात्मक भाव और संदर्भ पद्य में एवं कथांश प्रायः गद्य में होता है। केवल पद्य में लिखी गई कथाएँ भी पर्याप्त संख्या में हैं।

उपदेश-कथा-साहित्य

कुवलयमाला कथा—इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि विषयों का परिणाम दिखाने के लिए कथाओं का संग्रह किया गया है। कथाओं की शैली रोचक है, विषयों की विविधता सराहनीय है, भाषा सरल और चलती हुई है और उपदेशों के कथन का ढंग रोचक है। ग्रन्थ में प्रसंगवश अनेक प्राकृत कवियों और काव्यों का उल्लेख हुआ है, जिससे भाषा और साहित्य के इतिहास की खोज में बड़ी सहायता मिल सकती है। कुछ सामाजिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। हूणराज तोरमाण की लूट-मार का उल्लेख तत्कालीन राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालता है। भाषा माहाराष्ट्री है। यत्र-तत्र अपभ्रंश और पैशाची का भी प्रयोग हुआ है। इस उपदेश-कथा-ग्रन्थ के रचयिता उद्योतन सूरि ८वीं शती ईसवी के उत्तरार्ध में हुए हैं। कृति के अंत में सूचित किया गया है कि इसकी समाप्ति जाबालिपुर में शकाब्द ७०० में हुई। उद्योतनसूरि हरिभद्र और वीरभद्र के शिष्य थे। इनकी शैली में हरिभद्र का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

उवएस माला—धर्मदासगणि-कृत 'उपदेशमाला' बहुत प्रसिद्ध और आदृत ग्रन्थ है। इसमें साधुओं और गृहस्थों के लिए अनेक नैतिक शिक्षाएँ हैं एवं ज्ञान-ध्यान, तप-संयम, दान-दया-अहिंसा, विनय-शालीनता, विवेक, अपरिग्रह, अनासक्ति आदि सद्‌गुणों पर सुबोध और सुरम्य उपदेश हैं। जैन-संघ में दीक्षित भिक्षु-भिक्षुणियाँ इसे कण्ठस्थ कर लेती हैं। मूल गाथाओं की संख्या ५४१ है। टीका के रूप में कथाओं का समावेश किया गया है। जैन मान्यता के अनुसार धर्मदास महावीर स्वामी के समकालीन थे, पर अन्तर्साक्ष्य के आधार पर विद्वानों का कहना है कि वे चौथी-पाँचवीं शती के जान पड़ते हैं।

'उवएस माला' पर कई टीकाएँ ९वीं शती की प्राप्त हैं।

इसके अनुकरण में हरिभद्र सूरि ने 'उपदेशपद प्रकरण' नाम से एक धर्मोपदेश-ग्रन्थ की रचना की, परन्तु इसकी उतनी प्रतिष्ठा नहीं है।

धर्मोपदेशमाला विवरण—यह एक संग्रह-ग्रन्थ है; जिसमें धर्म, नीति,

शुभाशुभ फल, सद्गुण-महिमा, दुर्गुण-निन्दा इत्यादि अनेक विषयों पर सूक्तियाँ और इनकी व्याख्या में १५६ कथाएँ उद्धृत की गई हैं। उदाहरणार्थ शील की व्याख्या के लिए राजमती-कथा, भाव के लिए इलापुत्र-कथा, राग और द्वेष का परिणाम दिखाने के लिए क्रमशः वणिक्-तनय-कथा तथा नाविकनन्द-कथा, दान का माहात्म्य दिखाने के लिए शालिभद्र-कथा; इसी प्रकार चाणक्य-कथा, ब्रह्मदत्तचक्रि-कथा, केशिगणधर-कथा, इत्यादि। इन कथाओं में जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र से पात्र लिये गए हैं—महापुरुष, सम्राट्, सम्राज्ञियाँ, राजकुमारियाँ, साधु, सेठ, बनिया, मूर्ख, दुर्जन, जुआरी, शराबी सभी तरह के लोग। इनका चरित्र-चित्रण बड़ी स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक और स्पष्ट रीति से किया गया है। अनेक देशों, मंदिरों, नदियों, सरोवरों और प्राकृतिक दृश्यों के विशद वर्णन दिये गए हैं। शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों और वक्रोक्ति, व्याजोक्ति, अन्योक्ति, दृष्टान्त, रूपक, उपमा आदि अलंकारों के अनेक उदाहरण बिखरे पड़े हैं। ज्ञान-विज्ञान की अनेक बातों का उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं सामाजिक और ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्री भी मिल जाती है।

यह ग्रन्थ साहित्यिक-दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भाषा गद्य-पद्य-मिश्रित है। कथाएँ बहुधा गद्य में हैं। मूल गाथाओं के रचयिताओं के नाम नहीं दिये गए। संकलनकर्ता और कथा-लेखक जयसिंह सूरि (कृष्ण मुनि के शिष्य) बताए गए हैं; जिनकी अपनी सूचना के अनुसार ग्रंथ की रचना सन् ८५८ ई० में हुई।

कुमारपाल-प्रतिबोध—इसमें सोमप्रभाचार्य ने वे शिक्षाएँ संग्रहीत की हैं जो समय-समय पर आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल को दी थीं। कुमारपाल पाटन के प्रसिद्ध चालुक्यराज मूलराज की ८वीं पीढ़ी में हुए। वे बड़े वीर, बुद्धिमान् और उदार राजा थे। उन्होंने, यह जानने के लिए कि कौन-सा धर्म अच्छा है, विद्वानों की अनेक सभाएँ बुलाईं पर उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उनके मंत्री ने जैनाचार्यों की प्रशंसा करते हुए सोमचन्द्र (जो बाद में हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुए) से शिक्षा पाने की प्रेरणा की।

मूल कथा इतनी ही है कि हेमचन्द्र के उपदेश सुनकर राजा धीरे-धीरे जैन-धर्म में दीक्षित हुए। इन्होंने कई मन्दिर सत्रागार, चैत्य और विहार बनवाये, कई तीर्थ-यात्राएँ कीं, इत्यादि-इत्यादि। इस पुस्तक का दूसरा नाम 'जैनधर्म प्रतिबोध' है, जो मुख्य नाम की अपेक्षा अधिक सार्थक है, क्योंकि इसका उद्देश्य पंच महाव्रतों, गुरु-पूजा, कर्तव्य-पालन, गृहस्थों के २१ व्रतों और विषय-विकारों के संबंध में उपदेश-संग्रह करना है। दृष्टान्त रूप में ५८ कथाएँ कही गई हैं—जैसे, जुए के विषय में 'नलचरित', पर-स्त्री-गमन के विषय में 'प्रद्योत-कथा', वेश्या-व्यसन के विषय में 'अशोक-कथा', मद्य-पान के बारे में 'द्वारिकदहन-कथा', परधन-हरण पर 'वरुण-कथा', गुरु-सेवा के विषय में 'लक्ष्मी-कथा', शीलव्रत-पालन में 'शीलवती तथा मृगावती का वृत्तान्त', तप के बारे में 'रुक्मिणी-कथा' इत्यादि।

ग्रन्थ की भाषा सरल और सरस है। पाँच 'प्रस्तावों' में से अन्तिम में संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। अपभ्रंश के उदाहरण भी मिल जाते हैं। पद्य अधिक हैं, गद्य कम। इसमें ऐतिहासिक सामग्री तो बहुत नहीं, पर धार्मिक और साहित्यिक दृष्टि से इसका महत्त्व स्वीकार किया गया है।

सोमप्रभाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे और अणिहलपुर (गुजरात) में रहते थे। कई भाषाओं के पण्डित थे। इन्होंने स्वयं इस कृति का रचना-काल सं० १२४२ बताया है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'दव्वसहावपयास' (द्रव्यस्वभाव-प्रकाश) जिसका दूसरा नाम 'बृहत् नयचक्र' है (१००० ई०), 'गाथाकोश' (११०० ई०), 'भववैराग्यशतक' (१२०० ई०), 'गाथा-सहस्री' (१६३० ई०) उपदेशों और नीति-शिक्षाओं के विख्यात संग्रह हैं। पर इनमें दृष्टान्त प्रायः नहीं हैं, और जो हैं भी वे अतिसंक्षिप्त और विरल हैं।

आख्यायिका

समराइच्च-कहा अथवा 'समरादित्य-कथा' में उज्जैन के राजा

समरादित्य और प्रतिनायक अग्निशर्मा के नौ जन्मों की कथा वर्णित है। इसीसे ग्रन्थ नौ भवों (अध्यायों) में विभाजित है और आरम्भ में भूमिका है। पहले जन्म में समरादित्य का नाम राजकुमार गुणसेन था। अग्निशर्मा राज-पुरोहित का कुरूप पुत्र था। एक बार राजकुमार ने उसकी कुरूपता का मजाक उड़ाया तो उसने घर-द्वार छोड़कर संन्यास ले लिया। संन्यासी अग्निशर्मा तीन बार राज-दरबार में आया, परन्तु अपने काम-काज में व्यस्त राजा गुणसेन ने उसका यथोचित आदर-सत्कार नहीं किया। अपमानित अग्निशर्मा ने वहीं प्राण दे देने का निश्चय किया और मरते-मरते व्रत लिया कि मैं जन्म-जन्मान्तर में राजा से निदान (बदला) लूँगा। नौ जन्मों में वह राजा से वैर लेता है। प्रत्येक जन्म के वैर का वृत्तान्त एक-एक अध्याय में वर्णित किया गया है। अन्त में वह राजा समरादित्य की हत्या कर देता है। मरने वाला स्वर्ग में और मारने वाला नरक में जाता है।

इस मूल कथा से गुम्फित अनेक अवान्तर कथाएँ हैं। इनमें सनत्कुमार और विलासवती की प्रेम-कथा, धरण और लक्ष्मी की प्रेम-कथा और अनेक तिरिया-चरित्तर की कहानियाँ भी सम्मिलित हैं। बहुत-सी कहानियों में कर्म और पुनर्जन्म का सम्बन्ध दिखाया गया है। एक व्यक्ति कर्म-गति से पुरुष से सूअर, सूअर से सर्प; और सर्प से फिर पुरुष के रूप में जन्म लेता है तो एक स्त्री कर्मों के क्रम से हथिनी, बंदरिया, कुतिया, बिल्ली, चाण्डालिनी और शबर-कन्या की योनि को प्राप्त होती है।

कथाओं में मर्त्यलोक और देवलोक के पात्र आते हैं। इसीसे लेखक ने अपनी कृति को दिव्यमानुषी धर्म-कथा कहा है। 'समराइच्च-कहा' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। सिद्धर्षि (९०६ ई०) और उद्योतन (७७९ ई०) ने इसके प्रभाव को स्वीकार किया है और अपनी कृतियों में इसकी शैली का अनुसरण भी किया है। इसकी शैली संस्कृत-महाकाव्यों की-सी है। नगर, झील, उद्यान आदि का वर्णन उच्चकोटि का है। अलंकार स्वाभाविक हैं। आर्या छन्द का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है। भाषा प्रायः सरल, प्रवाह-

पूर्ण और मुहावरेदार है। जहाँ वर्णन आए हैं वहाँ पर कहीं-कहीं बड़े-बड़े समास मिल जाते हैं। जैसे निम्नलिखित वाक्य में :

पत्तो य सालसरलतमालतालालिवउलतिलयनिचुलअंकोल्लकलम्बवञ्जुलपलाससल्लइतिणिमनिम्बकुडयनग्गोहखइरसज्जज्जुणम्बजम्बुयनियरगुवलं दरियमयणादखरनहरसिहरावायदलियमत्तमायङ्गकुम्भत्थलगलियबहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयरच्चियविडिथणभूमिभागं..........महाडविं।

लेकिन, कथा के प्रवाह में और कथोपकथन में भाषा सरल है। गद्य और पद्य की भाषा में थोड़ा-बहुत अन्तर अवश्य है।

'समराइच्च-कहा' के लेखक हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के एक बहुत प्रसिद्ध आचार्य थे। वे चित्तौड़ के रहने वाले थे और संस्कृत तथा प्राकृत के महापण्डित थे। बाद में जैन-साधु हो गए थे। इनका समय ७००-८०० ई० के बीच में निर्धारित किया जाता है।

धुतक्खान (धूर्ताख्यान)—हास्य और व्यंग्य की यह कृति भारत के साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चार धूर्त पुरुष—मूलश्री, कुण्डरीक, एलाषाढ और शश—तथा एक धूर्त स्त्री, खण्डपाना, बारी-बारी ब्राह्मण-धर्म-ग्रन्थों की नकल में अपनी-अपनी गप्पें सुनाते हैं। शर्त यह तय होती है कि जो कोई उस गप्प को रामायण, महाभारत अथवा पुराण से प्रमाणित कर दे वह धूर्तों का गुरु माना जाय और जो इसे मिथ्या समझे वह धूर्तों और उनके पाँच-पाँच सौ साथियों को भोजन खिलाए।

पहले मूलश्री अपना अनुभव सुनाने लगे—एक बार मैं अपने सिर पर गंगा उठाने शिवपुरी को चला। कमण्डलु और छत्र लिये मैं जा रहा था कि एक मत्त हाथी मेरे पीछे पड़ गया। मैं कमण्डलु में घुस गया, तो हाथी मेरे पीछे-पीछे घुस आया। छः महीने वह मेरे पीछे भागता फिरा। अन्त में मैं कमण्डलु की टोंटी से बाहर निकल गया, पर हाथी की पूँछ उसमें फँस गई। मैं शिवपुरी पहुँचा। वहाँ पर छः महीने मैंने गंगा को अपने सिर में धारण किये रखा और फिर उज्जयिनी आ गया।

इस प्रकार की कथाएँ हर एक ने सुनाईं और दूसरों ने पुराणादि से उन्हें सत्य सिद्ध कर दिया। लगभग ५० पौराणिक कथाएँ इसमें प्रमाण के रूप में आई हैं। शैली सरल और प्रवाहयुक्त है; और अलंकारों के बोझ से दबी नहीं है।

इसके रचयिता भी 'समराइच्च-कहा' के लेखक आचार्य हरिभद्र सूरि हैं।

कथाकोश-प्रकरण—इसमें ३६ कथाएँ और ४-५ उपकथाएँ संगृहीत हैं। इनमें १६ कथाएँ साधुओं को दान देने के फल पर हैं। अन्य में जिन-पूजा, धर्मोत्साह, कर्म-फल इत्यादि विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है। कुछ-एक कहानियाँ अति संक्षिप्त हैं। वर्णनों में तत्कालीन समाज, राजनीति, आचार-व्यवहार, जन-स्वभाव आदि का परिचय मिल जाता है। कहानियों में सिंहकुमार की कथा, मनोरथ श्रावक की कथा, पार्श्वश्रावक की कथा, यक्षों की कथाएँ, कुन्तला रानी का आख्यान और वणिक्पुत्र का दृष्टान्त साहित्यिक दृष्टि से उत्तम हैं। कल्पना और रस का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा सरल और सुबोध गद्यमय है; जहाँ-तहाँ संस्कृत के पद्य बिखरे हुए हैं। वर्णन-शैली प्रवाहयुक्त है। समास कम हैं। और शब्दाडम्बर का अभाव है। भावों की मौलिकता इस कृति की एक और विशेषता है।

इसकी रचना सन् ९५१ ई० में आचार्य जिनेस्सर ने की। वे आयुर्वेद, संगीत, नाट्य-शास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के पण्डित थे। उनके संस्कृत और प्राकृत में कई-एक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अन्य प्राकृत ग्रन्थ धार्मिक हैं और उनमें साहित्यिक अंश नहीं के बराबर हैं।

कथामहोदधि—'कथा-कोश' के ढंग के अनेक कथा-संग्रह प्राकृत और अपभ्रंश में उपलब्ध हैं। इनकी कुछ कथाएँ तो सामान्य रूप से इधर-उधर अन्य धर्म-कथा-ग्रंथों में भी मिल जाती हैं, पर अधिकतर मौलिक जान पड़ती हैं। ऐसे कथा-संग्रहों में सोमचन्द्र-कृत 'कथामहोदधि' उल्लेखनीय है। इसमें १५७ कहानियाँ हैं; कुछ संस्कृत में, और कुछ अपभ्रंश में।

प्राकृत-कथाओं की शैली रोचक और सरस है।

विजयचन्द्र-चरित—इसमें जिन-पूजा का फल दिखाने के लिए आठ कथाएँ हैं। रचनाकार चन्द्रप्रभ महत्तर और रचना-काल सन् १०७०ई० निश्चित है।

ज्ञानपञ्चमी कथा—इसमें दस कथाएँ हैं—जयसेण-कहा, नंद-कहा, भद्दा-कहा, वीर-कहा, कमला-कहा, गुणाणुराग-कहा, विमल-कहा, धरण-कहा, देवी-कहा तथा भविस्सयत्त कहा।[1] प्रत्येक कथा ज्ञानपञ्चमी-वृत्त के माहात्म्य के दृष्टान्त के रूप में लिखी गई है। सबका अन्त एक-सा है, जिससे कथा की सरसता नष्ट हो जाती है। पर शेष कथा-भाग प्रायः अच्छा बन पड़ा है। प्रथम और अन्तिम कथाएँ लम्बी हैं— लगभग ५-५ सौ गाथाओं में; अन्य कथाएँ १२५-१२५ गाथाओं में समाप्त की गई हैं। गाथाओं की कुल संख्या २००४ है।

कृति का रचना-काल निर्धारित नहीं किया जा सका। इसके रचयिता, महेश्वर सूरि, (जैसा कि 'ज्ञानपञ्चमी-कथा' से स्पष्ट है) बड़े प्रतिभाशाली और भाषाप्रभुत्ववान कवि थे। कथाओं की वर्णन-शैली सरल और भावयुक्त है। इनकी भाषा सुललित और सरस माहाराष्ट्री है। जगह-जगह सदुक्तियाँ और ललित पदावलियाँ भरी पड़ी हैं। वर्णन कवित्वपूर्ण हैं।

'विजयचन्द्र केवलिन्'—इसमें गाथाओं की संख्या १०६३ है, जिनमें आठ प्रकार की जिन-पूजा का माहात्म्य आठ कथाओं में वर्णित किया गया है। इस प्रकार जयसुर राजा की कथा का विषय गंध-पूजा, विनयंधर की कथा का धूप-पूजा, कीरयुगल की कथा का अक्षत-पूजा, वणिक्सुता लीलावती की कथा का पुष्प-पूजा, जिनमती की कथा का दीप-पूजा, हलीपुरुष की कथा का नैवेद्य-पूजा, दुर्गा की कथा का फल-पूजा और वीरप्रसूता की कथा का विषय जल-पूजा है। अन्त में एक अवशिष्ट कथा है। भाषा

---

१. इस अन्तिम आख्यान के आधार पर अपभ्रंश में धनपाल ने 'भविसत्त-कहा' नाम से एक सुन्दर प्रबन्ध-काव्य की रचना की।

अवश्य सरल है; परन्तु भाव, चरित्र, कथा-गठन आदि की दृष्टि से कृति का साहित्यिक महत्त्व कम है। इसकी रचना सन् १०७० ई० में अभयदेव सूरि के शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तर ने की। वे पूर्वी प्रदेश के रहने वाले जान पड़ते हैं। इनकी माहाराष्ट्री में मागधी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

धार्मिक उपन्यास

तरंगवती—इस नाम की प्रेम-कथा का उल्लेख 'अणुओगदार' सूत्र, 'कुवलयमाला,'तिलकमंजरी' आदि ग्रंथों में हुआ है। मूल कृति नहीं मिलती। इसका संक्षेप १६४३ पद्यों में 'तरंगलीला' नाम से उपलब्ध है। 'तरंग-लीला' के सम्पादक नेमिचन्द्र का कहना है कि 'तरंगवती' बहुत बड़ा ग्रंथ था और इसकी कथा अद्भुत थी। तरंगवती एक रूपवती स्त्री है, जिसे सरोवर में हंस-मिथुन को देखकर अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया जब कि वह स्वयं हंसिनी थी। उसके पति हंस को किसी व्याध ने मार डाला था। यह याद करके उसे मूर्च्छा आ गई। यहीं से प्रेम और विरह की जाग्रति होती है। सचेत होने पर वह अपने प्रियतम की खोज में निकल पड़ी। अनेक विपत्तियाँ सहने के बाद उसे अपने इष्ट की प्राप्ति होती है। वह और उसका प्रेमी विवाह-बंधन में बँधते हैं और अन्त में एक जैन-मुनि के उपदेश से जैन-धर्म में प्रवेश करते हैं।

कथा उत्तम पुरुष में वर्णित है। इसमें करुण-श्रृंगारादि अनेक रसों, प्रेम की विविध परिस्थितियों, चरित्र की ऊँची-नीची अवस्थाओं, बाह्य और अन्तर्संघर्ष की स्थितियों का बहुत स्वाभाविक और विशद वर्णन किया गया है। काव्य-चमत्कार अनेक स्थलों पर मिलता है। भाषा प्रवाहपूर्ण और साहित्यिक है। देशी शब्दों और प्रचलित मुहावरों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'तरंगवती' के रचयिता पालित्त (पादलिप्त) सूरि थे। उनका जन्म कोशल में हुआ था। पहला नाम नागेन्द्र था, साधु हो जाने पर पादलिप्त नाम हुआ। वे जैन धर्म के एक प्रसिद्ध आचार्य थे और आंध्र-नरेश हाल

की राज-सभा में सम्मानित कवि थे। एक किंवदंति के अनुसार वे उज्जयिनी के राजा विक्रम के समकालीन थे। विद्वानों ने इनका जीवन-काल ५वीं शती से पूर्व निश्चित किया है।

सुरसुन्दरी-चरिअं—'सुरसुन्दरी-चरित्र' १६ परिच्छेदों में विभक्त एक प्रेम-कथा है। प्रत्येक परिच्छेद में २५० पद्य हैं और इस प्रकार चार हजार पद्य हैं। कथा का संगठन, मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओं का संबंध और गुम्फन, मानसिक स्थितियों का स्वाभाविक वर्णन, वातावरण की सुन्दर सृष्टि, चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास इत्यादि अनेक औपन्यासिक गुण इस कृति में विद्यमान हैं।

आलोचकों ने इसे सरस और काव्य-गुण-सम्पन्न रचना माना है। रसों की विविधता में कवि ने बड़ा कौशल दिखाया है। शान्तरस प्रधान है। विषयों की विविधता से भी ग्रंथ परिपूर्ण है— कहीं सूर्योदय, वसन्त, वन, सरोवर, नगर, राज-सभा, युद्ध, विवाह, विरह, मूर्च्छा आदि का वर्णन है, तो कहीं धर्म, आचार, अहिंसा सत्य, संन्यास पर उपदेश हैं और कहीं सुख-दुःख, नरक-स्वर्ग, संसार की असारता पर सुभाषित हैं। लाटानुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों के अतिरिक्त अर्थालंकारों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। भाषा में प्रसादगुण प्रधान है। संस्कृत, अपभ्रंश और ग्राम्य भाषा के शब्द भी यदा-कदा मिल जाते हैं।

कथानक बहुत संक्षिप्त और सरल है। धनदेव सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागों के पाश से छुड़ाते हैं। विद्याधर सुरसुन्दरी और अपने प्रेम, विरह और मिलन की आशा-निराशामयी कथा सुनाता है।

यह ग्रंथ कवि ने अपनी बहन कल्याणमती के कहने पर सरल प्राकृत में लिखा है। कवि का नाम साधु धनेसर (धनेश्वर) दिया गया है। इस नाम के ६-७ जैन-लेखक हुए हैं। ग्रंथ में प्राप्त एक सूचना के अनुसार यह धनेश्वर 'कथाकोश प्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि के शिष्य थे, जिन्होंने चन्द्रावती नगर में सन् १०३८ ई० में प्रेमाख्यान की रचना की थी।

कालकाचार्य-कथानक—यह एक लघु उपन्यास है, जिसमें १४५ पद्य और शेष गद्य है। कथानक बहुत ही सरल और छोटा है। राजकुमार कालक की छोटी बहन सरस्वती को उज्जयिनी-नरेश गर्दभिल्ल भगा ले जाता है। कालक लोगों में गर्दभिल्ल के विरुद्ध विद्रोह उत्पन्न करते हैं। वे शक-कुल के राजा को उकसाते हैं और उसकी सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर देते हैं एवं अपनी बहन को छुड़ा लाते हैं। बाद में वे साधु हो जाते हैं और जैन धर्म के आचार्य होकर प्रसिद्धि पाते हैं। हो सकता है कि इस कथानक में कोई ऐतिहासिक सत्य हो। कृति की शैली अलंकृत और कवित्वपूर्ण है; विशेषतः नगर-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि में। इसका रचना-काल १०वीं शती निर्धारित किया गया है।

भुवन-सुन्दरी—इस नाम का एक प्रेमाख्यान विजयसिंह द्वारा लिखा हुआ मिलता है। कथा में कोई विशेषता नहीं है। रचना-तिथि ९१७ ई० निश्चित है।

मलयसुन्दरी-कथा—इसमें राजकुमार महाबल और मलयसुन्दरी की प्रेम-कथा, उनके अनेक बार बिछुड़ने और मिलने तथा अन्त में साधु हो जाने का वर्णन है। घटनाएँ जटिल और आश्चर्यपूर्ण हैं। कृतिकार का पता नहीं चल सका; पर इसका रचना-काल १४वीं शती से पहले निर्धारित किया गया है।

सिरिसिरिवाल-कहा—इस कथा का उद्देश्य सिद्धचक्रपूजा का माहात्म्य प्रदर्शित करना है। राजकुमार श्रीपाल अपने चाचा से सताया हुआ भाग गया और कोढ़ियों के बीच में पड़कर कोढ़ी हो गया। एक राजा अपनी पुत्री, मदनसुन्दरी, से क्रुद्ध था, उसने उसका विवाह श्रीपाल कोढ़ी से कर दिया। रास्ते में एक साधु मुनिचन्द्र ने उन्हें सिद्धचक्र की नवपद-पूजा का उपदेश दिया। भ्रमण करते हुए राजकुमार को कुछ रासायनिक मिले, उनसे सोना पाकर और एक सिद्ध से 'जलतारिणी' तथा 'परशस्त्र-निवारिणी' नाम की तांत्रिक जड़ियाँ पाकर वह आगे चला।

कौशाम्बी का एक बनिया, धवल, धनोपार्जन के लिए कहीं जा रहा

था। उसके जलयान फँसे थे। श्रीपाल ने नवपदध्यान से उसका बेड़ा पार किया और समुद्र-यात्रा पर चल पड़ा। रास्ते में उसने बब्बर-कन्या मदन-सेना से विवाह किया। फिर वह दोनों पत्नियों को लेकर रत्नद्वीप पहुँचा, वहाँ चक्रेश्वरी देवी की आज्ञा से विद्याधरी मदनमञ्जूषा से विवाह किया। धवल ने उसे मारकर उसकी पत्नियों को वश में करने की चेष्टा की। श्रीपाल को समुद्र में गिराया गया, पर वह बचकर कोणकरण पहुँचा और वहाँ की राजकुमारी मदनमंजरी से विवाह किया। पीछे उसकी वे पत्नियाँ चक्रेश्वरी देवी की सहायता से अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई धवल के साथ वहाँ पहुँचीं। धवल ने कई षड्यन्त्र किये और अन्त में जान गँवाई। श्रीपाल परिवार का सुख भोगने लगा।

आख्यान की शैली प्रायः सरल और सरस है। अलंकारों का जहाँ-जहाँ प्रयोग हुआ है बड़े स्वाभाविक ढंग से हुआ है। स्तुति और वर्णन में लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त हुए हैं। गद्य और पद्य की भाषा में अन्तर है। प्रायः माहाराष्ट्री का प्रयोग हुआ है। कुछ-एक पद्यों में अपभ्रंश है। इसके रचयिता रत्नशेखर सूरि १४वीं शती के उत्तरार्ध में हुए हैं।

रयणसेहर-कहा—जायसी-कृत 'पदमावत' का पूर्व-रूप 'रत्नशेखर कथा' है। रत्नशेखर रत्नपुर नगरी का राजा है, जो सिंहल की राजकुमारी रत्नवती का रूप-वर्णन सुनकर व्याकुल हो उठता है। कहा गया है कि इन दोनों का प्रेम जन्म-जन्मान्तर से था। राजा रत्नशेखर अपने मन में बिठाई मूर्ति की खोज में निकल पड़ता है और सिंहलद्वीप जाता है। उधर रत्नवती में भी प्रेम जागृत होता है। वह कामदेव की पूजा के लिए मन्दिर में जाती है। वहीं रत्नशेखर विद्यमान है। दोनों की भेंट होती है। बाद में दोनों को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं। अन्त में उनका विवाह हो जाता है।

भाषा-शैली सरल है। गद्य-पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। लोक-विश्वासों का चित्रण विशद ढंग से हुआ है। ग्रन्थकार जिनहर्षगणि बड़े अनुभवी और पंडित जान पड़ते हैं। उनके रचना-कौशल का भी पर्याप्त

प्रमाण मिलता है। कृति की रचना चित्रकूट (चित्तौड़) में १५वीं शती के अन्त में हुई, ऐसा अन्तर्साक्ष्य से सिद्ध होता है।

चरित-साहित्य

पउम चरिय[1]—'पद्मचरित' में राम-कथा का जैन-संस्करण है। पद्म राम ही का दूसरा नाम है। कथा का आधार 'वाल्मीकीय रामायण' है। परन्तु स्थलों में भेद भी है। 'पउम चरिय' में दशरथ की चार रानियाँ बताई गई हैं—कौशल्या या अपराजिता, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा। वनवास में राम और लक्ष्मण कई विवाह करते हैं—राम गन्धर्व राजा की तीन कन्याओं से और लक्ष्मण वज्रकर्ण की आठ कन्याओं से। आगे चलकर राम सुग्रीव की १३ कन्याओं से और लक्ष्मण लंका के पास समुद्रराज की कन्या और शक्ति लगने पर चिकित्सा करने वाली विशल्या नाम की कन्या से विवाह करते हैं। अयोध्या में राजा राम की ८०० और लक्ष्मण की १३०० रानियाँ कही गई हैं। रावण की ६०० रानियाँ थीं। सूपनखा का नाम चन्द्रनखा दिया है और उसके पति का खरदूषण। हनुमान का विवाह रावण की भाञ्जी अनंगकुसुमा से हुआ था।

कथा का अन्त जैन-कल्पना के अनुसार मोड़ दिया गया है। सीता अग्नि-परीक्षा में सफल होकर जैन दीक्षा ले लेती है और बाद में स्वर्ग को प्राप्त करती है। सीता के पुत्रों के नाम लवण और अंकुश बताये गए हैं। लक्ष्मण मरकर नरक में जाते हैं; क्योंकि रावण का वध इन्हींके हाथों हुआ। राम अहिंसाव्रतधारी थे। वे दीक्षा ले लेते हैं और साधना करके मोक्ष पाते हैं।

राजा श्रेणिक की शंकाओं का समाधान करते हुए गणधर गौतम ने यह राम-कथा सुनाई है। कुछ-एक अवान्तर कथाएँ भी हैं। कथानक रोचक और सुन्दर है। कथांश की अपेक्षा वर्णन कम हैं। प्रारम्भ में विद्याधर-लोक, राक्षस-वंश तथा वानर- वंश का वर्णन है। बीच-बीच में

१. इसके आधार पर स्वयंभू ने 'पउमचरिउ' नाम से अपभ्रंश में एक उत्कृष्ट प्रबन्ध की रचना की।

नगर, नदी, तालाब आदि के वर्णन हैं। कहीं-कहीं उपदेश भी मिल जाते हैं। भाषा में सरलता, ओज और प्रवाह है। माहाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त संस्कृत और अपभ्रंश के रूप भी यत्र-तत्र आ गए हैं। कृति की शैली महाकाव्य की है। गाथा छंद का अधिकतर प्रयोग हुआ है। छन्द, अलंकार और रस की विविधता और सफल योजना से जान पड़ता है कि ग्रन्थकार अच्छे शिल्पी और पंडित थे। ग्रन्थ का विस्तार ११८ उद्देशों (अध्यायों) के अन्तर्गत ६००० से कुछ अधिक पद्यों में हुआ है।

'पउम-चरिउ' के रचयिता विमल सूरि के सम्बन्ध में केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त हो सकी है कि वे राहु के शिष्य विजय के शिष्य थे। कृति का रचना-काल स्वयं कवि ने वीर-निर्वाण से ५३०वाँ वर्ष बताया है, अर्थात् ६० ई० के लगभग। कुछ विद्वान् इसे तीसरी-चौथी शती की कृति मानते हैं। पर जिन बातों के आधार पर वे इसे बाद की रचना बताते हैं वे प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं।

वसुदेव-हिण्डी—इसमें यादव-नरेश कृष्णजनक वसुदेव के भ्रमण (हिंडी) की कथा वर्णित है। कथा के उपक्रम का आधार मूल रूप से 'हरिवंश' है। कौरव-पांडवों की कथा गौण है और इसका आधार 'महाभारत' है। शैली में 'बृहत्कथा' का प्रभाव स्पष्ट है। कथा का विभाजन मुख, प्रतिमुख, शरीर आदि में हुआ है। प्रधान कथा के साथ अनेक अन्तर्कथाएँ गुम्फित हैं, जिनमें तीर्थंकरों और अन्य शलाका पुरुषों के चरित वर्णित हैं। कृष्ण को अरिष्टनेमि का समकालीन बताया गया है। ऋषि, मुनि, विद्याधर, देवी-देवता आदि की कथाएँ भी संक्षिप्त हैं। बाद में इन कथाओं के आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होती रही है।

कृति का विस्तार १०० लम्बकों में हुआ है। अधिकांशतः गद्य का प्रयोग हुआ है, कहीं-कहीं पद्य मिल जाते हैं। शैली प्रायः सरल है, पर वर्णनों में लम्बे-लम्बे समास प्रयुक्त हुए हैं। इसीसे ये वर्णन काव्यात्मक होते हुए भी क्लिष्ट हैं। कथांश अवश्य सरस और रोचक है। यह ग्रन्थ भी माहाराष्ट्री में है। इसका पूर्व भाग संघदास गणि ने और उत्तरभाग

धर्मसेन गणि ने लिखा। कृति का उल्लेख जिनभद्र, हरिभद्र तथा मलयगिरि ने किया है। इससे इसका रचना-काल ७वीं शती से पूर्व निश्चित होता है।

शलाका-पुरुष-चरित—राम और कृष्ण के चरितों के अतिरिक्त तीर्थंकरों के चरितों में कोई विशेष साहित्यिक गुण नहीं मिलते। इनमें शीलाचार्य (शीलांक सूरि)-कृत 'चउपन्न-महापुरिस-चरिय' एक विशाल ग्रन्थ है। इसमें ५४ शलाका पुरुषों का चरित वर्णित है। ६ प्रतिवासुदेवों को वासुदेवों के साथ ही गिना गया है। बाद में इन्हें अलग मानकर अपभ्रंश में ६३ शलाका पुरुषों पर चरित-काव्य लिखे गए हैं। इसका रचना-काल ८६८ ई० निर्धारित है। 'आदिनाथ-चरित' वर्धमान का विशाल ग्रन्थ है, जिसमें १५००० गाथाएँ हैं। इसमें पाँच प्रस्तावों के अन्तर्गत ऋषभदेव का जीवन-चरित दिया गया है। इसकी रचना-तिथि सन् ११०३ ई० है। ११०४ ई० की एक कृति 'पृथ्वीचन्द्र-चरित' है, जिसमें ७५०० पद्य हैं। इसके रचयिता शांतिसूरि थे। १२वीं शती ही में आचार्य हरिभद्र हुए हैं। इन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में कई ग्रन्थ लिखे। इनकी प्राकृत-कृतियाँ 'मल्लिनाथ-चरित' (३ प्रस्ताव) तथा 'चन्द्रप्रभचरित' (८००० पद्य) हैं। अपभ्रंश में इन्होंने 'नेमिनाह-चरिउ' लिखा। इनके प्राकृत-चरित-काव्यों में कवित्वपूर्ण और साहित्यिक कोटि के वर्णन प्राप्त होते हैं। परन्तु इससे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उत्तरकाल में लिखे गए, जिनमें लक्ष्मणगणि-कृत 'सुपासनाह-चरिय' (११४३ ई०), गुणचन्द्र-कृत 'महावीर-चरित' और 'सोमप्रभाचार्य-कृत' 'सुमतिनाथ-चरित' (लगभग ११६० ई०) उल्लेखनीय हैं। यही सोमप्रभ 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के रचयिता थे।

'सुपासनाह-चरिय' में सातवें तीर्थंकर श्री पार्श्व के अनेक जन्मों की कथाएँ वर्णित हैं। जैन-धर्म की व्याख्या में अनेक उपकथाएँ दी गई हैं, जिनमें से कुछ प्रेम और आश्चर्य से ओत-प्रोत हैं। गाथाओं की संख्या ८००० है। जिनमें ६८ पद्य अपभ्रंश के भी हैं। शैली अच्छी है।

शब्द और अर्थ अलंकारों का सफल निर्वाह हुआ है। भाषा अलंकृत है और अभिषेकादि के वर्णनों में विशेषतः चमत्कारपूर्ण हो गई है।

'महावीर-चरित' की वर्णन-शैली भी इसी प्रकार की है। इसका विशेष गुण इसकी शुद्ध और व्याकरण-सम्मत प्राकृत है। काव्य की दृष्टि से भी यह सफल कृति है। कुछ नये छंदों का प्रयोग इसमें पहली बार हुआ है। अलंकारों का बाहुल्य है। वर्णनों में कालिदास और बाणभट्ट की छाया झलकती है। कई वाक्य तो ऐसे लगते हैं कि संस्कृत से रूपान्तरित कर लिये गए हों। गद्य की अपेक्षा पद्य अधिक सरल है। ग्रन्थ में आठ 'प्रस्ताव' हैं।

'सुमतिनाथ-चरित' में प्रधान वर्णन के साथ-साथ जैन-धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या कथाओं के माध्यम से की गई है। इसमें ९५०० पद्य हैं।

चक्रवर्तियों की जीवन-गाथाओं में श्रीचन्द्र-कृत *'सनत्कुमार-चरित'* प्रसिद्ध है। इसमें ८१२७ पद्य हैं। सनत्कुमार का हरण, वन-भ्रमण, नाना कष्ट-सहन, अनेक विद्याधरियों से विवाह, सफलता आदि के वर्णन सुन्दर हैं।

'कुमारपाल-चरित'—यह ग्रन्थ २८ सर्गों में प्राप्त है। प्रथम बीस सर्ग संस्कृत में और अंतिम आठ सर्ग प्राकृत तथा अपभ्रंश में हैं। इसीलिए इसका दूसरा नाम 'द्वयाश्रय महाकाव्य' है। प्राकृत भाग में एक और दोहरे उद्देश्य का निर्वाह करने की चेष्टा की गई है—कुमारपाल के चरित का वर्णन करने के साथ-साथ वही पद्य प्राकृत-व्याकरण के नियमों के उदाहरणों का काम भी देते हैं। ये नियम तो उनकी दूसरी कृति 'सिद्ध-हेम' में हैं और उदाहरण यहाँ पर दिये गए हैं। इससे कथा के विकास में तो कोई विघ्न नहीं पड़ता, पर शैली बड़ी कृत्रिम और बोझिल हो गई है।

कुमारपाल का परिचय 'कुमारपाल-प्रतिबोध' के सम्बन्ध में पहले दिया जा चुका है। आचार्य हेमचन्द्र उनके गुरु थे। 'कुमारपाल चरित' उन्हीं आचार्य की कृति है। हेमचन्द्र अपने समय के सबसे बड़े विद्वान्

थे। उन्होंने टीका-ग्रंथ, कोष, व्याकरण, काव्य, प्रबन्ध आदि अनेक प्रकार की रचनाएँ कीं। वे 'कलिकाल सर्वज्ञ' कहे जाते हैं। उनका जन्म सन् १०८९ में गुजरात में एक प्रतिष्ठित वैष्णव घराने में हुआ। जैन साधु हो जाने के बाद भी वे अधिकतर गुजरात में ही रहे।

'कुमारपाल-चरित' माहाराष्ट्री काव्य-साहित्य में उनका विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ है। इसमें के कुछ वर्णन ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टियों से पठनीय हैं—राजधानी पट्टण का वर्णन, राज-वैभव, उद्यानों का सौन्दर्य, प्रजा के विनोद, कुमारपाल और कोणकण के राजा मल्लिकार्जुन के बीच युद्ध, कुमारपाल द्वारा दक्षिण और उत्तर के अनेक राजाओं का दमन, इत्यादि। अन्तिम दो सर्गों में धार्मिक और नैतिक उपदेश संगृहीत हैं; जिनका विषय है आत्म-त्याग, मोक्ष, गुरु-पूजा, धर्म, त्रिरत्न आदि। इन दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी और पैशाची के भी अनेक पद्य हैं।

कुम्मापुत्त-चरिअ—इसमें महेन्द्रसिंह और रानी कूर्मा के पुत्र धम्मदेव के दो पूर्व-जन्मों और केवलज्ञान-प्राप्ति की कथा है। धर्म-कार्यों में दान, शील, रूप और भाव की महिमा स्वीकार की गई है। इस कृति का उद्देश्य यह दिखाना है कि बिना घर-द्वार छोड़े भाव के कारण केवलज्ञान प्राप्ति हो सकती है। कृति साधारण है। इसकी गणना धर्म-कथाओं के अन्तर्गत होनी चाहिए। भाषा सरल है। ग्रंथकर्ता अनन्तहंस हैं, जिनका जीवन-काल १६वीं शती में माना जाता है।

इसी तरह का एक और ग्रन्थ है 'सुदंसण-चरियं' अथवा 'शकुनिका-विहार', जिसके ४००० पद्यों में धर्मपाल और धनपाल नाम के सेठों का चरित वर्णित है। इसके लेखक देवेन्द्र मुनीन्द्र मेवाड़ के रहने वाले थे।

जैन-कथा-साहित्य में से कुछ नमूने आगे दिये जा रहे हैं:

पउमचरिउ

सुव्वंति लोयसत्थे रावणपमुहा य रक्खसा सव्वे।
वस-लोहिय-मंसाई-भक्खपाणे कयाहारा ॥१०७॥
किर रावणस्स भाया महाबलो नाम कुम्भयण्णो त्ति।
छम्मासं विगयभओ सेज्जासु निरंतरं सुयइ ॥१०८॥
जइ वि य गएसु अंगं पेलज्जइ गरुयपव्वसमेसु।
तेलघडेसु य कण्णा पूरिज्जंते सुयंतस्स ॥१०९॥
पडुपडहतूरसद्दं ण सुणइ सो सम्मुहं पि वज्जंतं।
नय उट्ठेइ महप्पा सेज्जाए अपुण्णाकलम्मि ॥११०॥
अह उट्ठिओ वि संतो असणमहाघोरपरिगयसरीरो ।
पुरओ हवेज्ज जो सो कुन्जर महिसाइणो गिलइ॥१११॥
काऊण उदरभरणं सुरमाणुसकुन्जराइवहुएसु।
पुणरवि सेज्जारूढो भयरहिओ सुयइ छम्मासं ॥११२॥
अन्नं पि एव सुवइ जइ इंदो रावणेण संगामे।
जिणिऊण नियलबद्धो लंकानयरी समाणीओ ॥११३॥
को जिणऊण समत्थो इंदं ससुरासुरे वि तेलोक्के ।
जो सागरपेरंतं जंबुद्दीवं समुद्धरइ ॥११४॥

ग्रन्थ-माहात्म्य

एयं हलहरचरियं निययं जो पढइ सुद्धभावेण।
सो लहइ बोहिलाभं बुद्धिवलाउं च अइपरमं ॥९३॥
वज्जयसत्थो वि रिवू खिप्पं उवसमइ तस्स उवसग्गो।
अज्जिणइ चेव पुण्णं जसेण सरिसं न संदेहो ॥९४॥
रज्जरहिओ वि रज्जं लहइ धणत्थी महाधणं विउलं।
लहइ परदेसगमणे समागमं चेव वंधूणं ॥९५-९६॥

अनुवाद

लोक-शास्त्र में सुना जाता है कि रावणप्रभृति सब राक्षस वसा, रुधिर, मांस के खाने-पीने में लगे रहते थे। १०७।

रावण का भाई महाबली कुम्भकर्ण निधड़क होकर छः मास तक निरन्तर शय्या पर सोया रहता था। १०८।

यदि उसका शरीर बड़े-बड़े पहाड़ों के समान हाथियों द्वारा पेलवाया जाता और यदि उसके सोते हुए कानों में तेल के घड़े ही क्यों न भर दिये जाते, सामने उसके ढोल और तूर का शब्द हो रहा होता, तो भी वह न सुनता और वह (नींद का) समय पूरा होने से पहले अपनी शय्या से कभी न उठता। १०९-११०।

और जब उठता तो खाने के लिए इतना घोर व्याकुल हो जाता कि सामने हाथी या भैंसा जो-कुछ मिलता उसे निगल जाता।१११।

सुर, मनुष्य, हाथी आदि बहुत-कुछ से अपना पेट भरकर फिर शय्या पर चढ़कर निर्भय होकर छः मास सोता था।११२।

और भी सुनते हैं कि संग्राम में रावण इन्द्र को जीतकर बेड़ियों में जकड़कर लंका नगरी में लाया था।११३।

सुरासुरों के त्रैलोक्य में इसे जीतकर कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है जो सागरपर्यन्त जम्बुद्वीप का उद्धार करे।११४।

हलधर के इस चरित को जो नित्य शुद्ध भाव से पढ़ता है, वह अति परम सद्धर्म, बुद्धि और बल का लाभ करता है।९३।

उसके सामने हाथ में शस्त्र लिये रिपु भी शान्त हो जाता है और इसमें सन्देह नहीं कि वह यश के समान पुण्य भी अर्जित करता है।९४।

यदि वह राज्य-रहित हो तो राज्य मिलता है, धनार्थी हो तो विपुल धन प्राप्त करता है और परदेश में जाकर फिर बन्धुओं से समागम चाहे तो वह भी हो जाता है।९५-९६।

समराइच्चकहा

अत्थि इहेव विजए रायउरं नाम नयरं । तन्निवासी अहं भवसरूवओ चेव तव्विरत्तमणो चिट्ठामि जाव, आगओ अणेयसमणसामी थेवदियहुप्पन्नोहिनाणो वलद्धपुणपावो अमरगुत्तो नाम आयरिओ त्ति । जाओ य लोए लोयवाओ 'अहो अयं महातवस्सी खीणासवदारो समुप्पन्नओहिनाणनयणो जहट्ठियधम्मदेसणालद्धिसंपन्नो' त्ति । तओ तन्नयरसामी अरिमद्दणो नाम राया अन्नो य नयरजणवओ निग्गओ तस्स दंसणवडियाए, संपत्तो से पायमूलं । वन्दिओ भयवं नरवइणा नयरजणवएण य । अहिणन्दिओ य धम्मलाहेण भयवया नरवई नयरजणवओ य । उवविट्ठो य गुरुवयण-बहुमाणमहग्घो अहाफासुए धरणिवट्टे राया नयरजणवओ य । पुच्छिओ य भयवं अहाविहारं राइणा । अणुसासिओ य तेणं । राइणा भणियं । भयवं. संपन्नं ते भूयभविस्सवत्तमाणत्थगाहगं ओहिनाणं । ता करेहि मे अनुग्गहं । आइक्ख निययचरियं, कया कहं वा भयवया संपत्तं सासयसिवसोक्खपायवेक्कबीयं सम्मत्तं देसविरइ वा इह अन्नभवेसु वा सामणं ति । भयवया भणियं । सुण ।

अत्थि इहेव विजए चम्पावासं नाम नयरं । तत्थाईयसमयंमि सुधणू नाम गाहावई होत्था, तस्स घरिणी धणसिरी नाम, ताण य सोमाभिहाणा सुया आसि । संपत्तजोव्वणा य दिन्ना तन्नयरनिवासिणो नन्दसत्थवाहपुत्तस्स रुद्ददेवस्स । कओ य णेण विवाहो ।

अनुवाद

यहीं पूर्वी भारत (विजय) में रायपुर नाम का नगर था। वहाँ का रहने वाला मैं जगत् के स्वरूप के बारे में विरक्तमन हो रहा था कि अनेक साधुओं के गुरु, पाप और पुण्य से भिन्न अवधि-ज्ञान जिन्हें थोड़े समय में ही उत्पन्न हो गया था, अमरगुप्त नाम आचार्य आ गए। लोगों में जन-श्रुति चल पड़ी कि धन्य हैं ये महातपस्वी, जिन्होंने पुत्र-स्त्री (घर-बार) छोड़ दिया है, जिन्हें अवधि-ज्ञानचक्षु प्राप्त हो गई है, वास्तविक धर्मोपदेश देने की योग्यता रखते हैं। तब उस नगर का स्वामी अरिमर्दन नाम राजा और दूसरे नगरजन के समूह उसके दर्शनार्थ निकल पड़े और उसके चरणमूल पर आ पड़े। राजा और नगर-जन-समूह ने भगवान् को नमस्कार किया। गुरुवचन का बहुमान और आदर करते हुए यथास्थान भूमि पर ही राजा और नगरजन बैठ गए। राजा ने भगवान् से कुशल-क्षेम पूछा और श्रीमान् ने राजा से। राजा ने कहा—भगवन्, आप तो भूत, भविष्यत् और वर्तमान को ग्रहण करने वाले अवधिज्ञान से सम्पन्न हैं। तो मुझ पर कृपा करें। नित्यचरित का उपदेश दें। कब और कैसे आपने प्राप्त किया शाश्वत शिव और पराक्रम के वृक्ष का एक बीज, अथवा कैसे प्राप्त हुई देश-विरक्ति और शांति-इस संसार से अथवा दूसरे लोकों से ? भगवान् बोले—सुनो !

यहीं विजय में चम्पावास नाम का नगर है। वहाँ इसी काल में सुधनु नाम का एक गृहस्थ था, उसकी गृहिणी धनश्री नाम की थी और इनकी सोमा नाम की कन्या थी। जब वह जवान हुई तो उसकी सगाई उस नगर के निवासी नन्द सार्थवाह के पुत्र रुद्रदेव के साथ हो गई। और उसके साथ विवाह सम्पन्न हो गया। इत्यादि।

कुमारपाल चरित

तस्स सणिच्छर-पिउणोव्व कर-हयं सिन्धवंव मुल्ल-कुलं ।
घम्म-जलोल्लं जायं स-सिन्न-पर-सेन्न-महिग्रंपि ॥
घडिआ अथेर-एक्कारएहि बहुएहिं दुव्वहा सत्ती ।
वेइल्ल-केल-कन्नेरयंव भामिय भुवि निहित्ता ॥
इअ इइअ-कोउहल्लो कोहल-दक्खेहिं तक्किओ राया ।
उअ कण्हो एस इहं भरहेसर-चक्कवट्टी ओ ॥
फलिहा-जलं बहुत्तम्बुजेहि जह, जह वणं च नीमेहि ।
जग-सिरि-नीवावेडय सहइ मही तह तुह पएहिं ॥

इन गाथाओं में सणिच्छर, सिन्धव, सिन्न, सेन्न, अथेर, एक्कार, वेइल्ल, केल, कन्नेर; कोउहल्ल, कोहल, उअ, ओ, फलिहा, बहुत्त, नीमेहि, नीवावेडय आदि शब्दों का प्रयोग बताया गया है ।

अनुवाद

कुमारपाल के पराक्रम का वर्णन

शनैश्चरयिता (सूर्य) के समान उस राजा के किरणों के समान हाथों से आहत लवण के समान मल्ल-कुल घाम से जलाई होने के समान (पानी-पानी) हो गया, चाहे अपनी सेना तथा शत्रु की सेना द्वारा (वह मल्ल-कुल) श्लाघित भी था ।

गढ़ी गई बहुत-से अस्थिवर लोहारों द्वारा बड़ी भारी शक्ति (आयुध-विशेष), उसे (राजा ने) विचकिल, कदली और कर्णिकार की तरह (सहज में उठाकर) घुमाकर भूमि पर पटक दिया ।

इस प्रकार हैरान कर दिया है जिसने उस राजा को कुतूहल में दक्ष लोगों ने परखा (और माना) कि इस पृथ्वी पर यह कृष्ण है अथवा भरत चक्रवर्ती है ।

परिखा का जल जैसे बहुत-से कमलों से, वन जैसे कदम्ब-वृक्षों से, ऐसे ही हे जगत् की श्री के कदम्ब-शेखर (राजन्) तेरे पैरों से यह पृथ्वी सुशोभित है ।

स्त्री-संग-निन्दा

डुमइ पुरे, डुसइ वणे, परइ थलीसु, परीइ जल-मज्झं ।
अभिमअ-चित्तो इत्थीहि णीइ धन्नो पसम-रज्जं ॥
सोच्चिअ सोक्खम् अइच्छइ, पसमं उक्कसइ, अक्कसइ सग्गं ।
मोक्खंयि हु अणुवज्जइ, अईइ न हु जो जुवइ-संगं ॥
सेहइ सीलं, पडिसन्ति धी-गुणा, संजमोवि अवहरइ ।
णिरिणासइ सुअम्, अवसेहइ सच्चं जुवइ-सत्ताण ॥
नारीउ हिअय, पम्हुस मा, ताओ पम्हुसन्ति पर-लोअं ।
रोञ्छन्ति धम्म-बीजं, न य रोहइ चड्डिअं तं च ॥

इन पद्यों में निम्नलिखित शब्दों के प्रयोग स्पष्ट किये गए हैं—

डुमइ, डुसइ; परइ, परीइ; अभिमअ । णीइ, अइच्छइ, उक्कसइ, अक्कसइ, अणुवजइ, अईइ; सेहइ, पडिसन्ति, अवहरइ, णिरिणासइ, अवसेहइ; पम्हुस, पम्हुसन्ति; सेञ्छन्ति, चड्डिअं ।

अनुवाद

वह नगर में सैर करता है, वन में सैर करता है, स्थलियों में सैर करता है, जल के बीच (समुद्रादि) में सैर करता है जिसका कि चित्त स्त्रियों द्वारा भ्रान्त नहीं होता। वह धन्य है, वह शांति के राज्य को प्राप्त करता है।

वही सौख्य प्राप्त करता है, वही-शांति पाता है, स्वर्ग-लाभ करता है, मोक्ष को प्राप्त करता है, जो युवति-संग से दूर रहता है ।

उनका शील भ्रष्ट हो जाता है । बुद्धि-गुण नष्ट हो जाते हैं, संयम भी विलीन हो जाता है, श्रुत(ज्ञान) और सत्य समाप्त हो जाता है, जो युवतियों में आसक्त रहते हैं ।

हे हृदय, स्त्री को मत छू, वे तो परलोक तक को खराब कर देती हैं, धर्म के बीज को ऐसा नष्ट कर देती हैं कि वह फिर उगने नहीं पाता ।

धूर्ताख्यान

एवं वि हे मसाणे पिच्छइ अविणट्ठयं विगयजीवं ।
अचिरविमुक्कं बालं खंडा तं गिण्हिउं ण्हवइ ॥

अब्भंगेऊण तयं जरचीवरसुसंगयं करेऊणं ।
उज्जेणीइ पविट्ठा सिट्ठिस्स घरं धणसमिद्धं ॥

दिट्ठो अणाइ सिट्ठी आसणविट्ठो जणेण परिकिण्णो ।
भणिओ अणाए भाओ सुत्तिअ धूआ मि दुग्गइया ॥

कइवयदिवसपसूआ अबंधवा असरणा विदेसत्था ।
तुब्भे महप्पभावा पिइहरमुल्लं ममं देह ॥

सिट्ठी वाउलचित्तो पुणो पुणो तीइ उच्चरंतीए ।
रुसिओ भणेइ पुरिसे सिग्घं णीणेह दमिअ त्ति ॥

णिग्गच्छेउं णिच्छइ तेहिं अ पुरिसेहिं पिल्लिया सहसा ।
धरणीअले णिवडिआ भणइ महं मारिओ पुत्तो ॥

भो पिच्छह जणसमुदय इमेण धणगव्विएण वणिएण ।
अट्ठारसदसोविवज्जियाइ माराविओ पुत्तो ॥

सो सिट्ठी आदण्णो सव्वपयत्तेण परियण समग्गो ।
अणुणेइ विलमाणी करेह मा सुअणु बोलं ति ॥

दिण्णा य कण्णिआ से भणिआ घित्तूण वच्च सूपुत्तं ।
मा रुअसु मा च कंदसु तुह एत्तिय जीवणं दिण्णं ॥

सेठ से धन ऐंठने का ढंग

इस प्रकार श्मशान में देखा हाल ही मरा एक बालक खण्डपाना ने, और उसे उठाकर नहलाया।

मालिश करके और उसे जीर्ण वस्त्र पहनाकर, वह उज्जयिनी गई और एक धनसमृद्ध सेठ के घर में प्रविष्ट हुई।

और वहाँ उसने देखा सेठ को आसन पर बैठे, लोगों से घिरे। कहने लगी— "मैं मन्दभाग्य, श्रोत्रिय (ब्राह्मण) की लड़की बड़ी दुर्गति को प्राप्त हुई हूँ।

"कई दिन से प्रसूता हूँ, बिना बांधव, बिना शरण, परदेसी हूँ। तेरा महात्म-भाव (देखकर आई हूँ), मुझे पीहर का मूल्य दीजिए।"

सेठ (व्यापार में) व्यग्र-चित्त था और वह बार-बार यही बोलती जा रही थी। क्रुद्ध होकर सेठ ने एक सेवक को कहा— "शीघ्र ले जाओ इसे पकड़ कर।"

उन लोगों ने घसीटकर तुरंत उसे बाहर फेंक दिया। वह भूमि पर पड़ी-पड़ी चिल्लाने लगी— "मेरा पुत्र मार दिया।

"हा हा रे देखियो लोगो, इस धनगर्वित बनिये ने अठारह दोषों से रहित मुझ अबला के बेटे को मरवा डाला है।"

वह सेठ घबराया, सब परिवार समेत सर्वप्रयत्न करके, उस विलाप करती हुई (खण्डपाना) से अनुनय करने लगा— "हे सुतनु, विलाप मत करो।"

उसने खण्डपाना को कर्णफूल दिया और कहा कि इस मृत बच्चे को उठा ले जाओ, रोओ मत, क्रंदन मत करो, तुझे इतना कुछ (जीवन) दे दिया।

कथाकोशप्रकरण

इहेव भारहे वासे साकेयं नाम नयरं। तत्थ बलो नाम राया, रई से देवी। तीसे धूया सूरसेणा नाम। रूवेग जोव्वणेण य उक्किट्ठा। सा दिण्णा कंचीए नयरीए सूरप्पहस्स रन्नो धणसिरीए देवीए पुत्तस्स तोसलिकुमारस्स। परिणीया सा तेण। नीया कंचीए। कालेण मओ सूरप्पहो। जाओ तोसली राया। सूरसेणा से अग्गमहिसी। अवरोप्परं पीई। एवं वच्चंति वासराइं रज्जसुहमणुहवंताणं। अण्णया समागओ समरकेसरी नाम सूरी बहुसीसपरिवारो। निग्गओ राया वंदणवडियाए। तत्थ य जाओ सम्मत्तपरिणामो तोसलिराइणो सूरसेणाए य। तित्थ-माहप्पे वन्निज्जंते पुच्छियं रन्ना— 'भगवं! तित्थाणं किं तित्थं पहाणं?'

अनुवाद

यहीं भारतवर्ष में साकेत नाम नगर है। वहाँ बल नामक राजा और रति नाम की रानी थी। उनकी लड़की शूरसेना नाम की थी। रूप और यौवन में वह उत्कृष्ट थी। वह दी गई कंची नगरी के सूरप्रभ नाम के राजा और धनश्री नाम की देवी के पुत्र तोषलीकुमार के। वह उससे ब्याही गई, (और) कंची लाई गई। काल में सूरप्रभ मर गया। तोषली राजा हो गया। शूरसेना उसकी अग्रमहिषी बनी। उत्तरोत्तर प्रीति (बढ़ने लगी)। इस प्रकार बीतने लगे दिन राज्य-सुख का अनुभव करते हुए उनके। एकदा आ गए समरकेसरी नाम जैनसाधु अपने बहुत से शिष्य-परिवार के साथ। राजा उसके वंदना-सत्कार के लिए बाहर तक आया। और वहाँ तोषली राजा और शूरसेना रानी के विचारों में परिवर्तन होने लगा। तीर्थ-माहात्म्य का वर्णन चल रहा था तो राजा ने पूछा—"भगवन्, तीर्थों में कौन-सा तीर्थ प्रधान है?"

नाणपंचमीकहाओ

[सुभाषित]

वीर लहिओ वि हु भत्ता अनन्नभज्जो गुणेहिं रहिओ वि।
मा सगुणो बहुभज्जो जइ राया चक्कवट्टी वि॥ १.३९

संकरहरिबंभाणं गउरी लच्छी जहेव बंभाणी।
तह जइ पइणो इट्ठा तो महिला इयरहा छेली॥ १.४२

विभवेण जो न भुल्लइ जो न वियारं करेइ तारुन्ने।
सो देवाण वि पुज्जो किमंग पुण मणुयलोयस्स॥२.९२

दुकलत्तं दालिद्दं वाही तह कन्नयाणं बाहुल्लं।
पच्चक्खं नरयमिणं सत्थुवइट्ठं च वि परोक्खं॥७.६

कण्णाद्धारविहीणं बोहित्थं जह जलंमि डोल्लेइ।
सिट्ठमहंतयरहियं रज्जं पि हु तारिसं होइ॥८.२१

वरजुवइ विलसिएणं गंधव्वेण च एत्थ लोयंमि।
जस्स न हीरइ हियय सो पसुओ अहव पुण देवा॥१०.२९४

अनुवाद

चाहे हल चलाने वाला और गुणरहित ही हो, पर वह भर्त्ता अच्छा जो एकपत्नी हो। वह नहीं जो गुणवान और चक्रवर्ती राजा होकर भी बहुस्त्री हो।

जैसे शंकर को गौरी, विष्णु को लक्ष्मी, ब्रह्मा को सावित्री इष्ट है ऐसे ही जो अपने प्रिय को इष्ट हो वही महिला है, दूसरी तो बकरी है।

जो विभव से फूल नहीं जाता, जिसे तारुण्य में विकार नहीं होता, वह देवताओं का भी पूज्य होता है, फिर मनुष्य-लोक का तो कहना ही क्या।

बुरी स्त्री, दारिद्र्य, व्याधि तथा कन्याओं का बाहुल्य; यह तो प्रत्यक्ष नरक है।

जिस प्रकार कर्णधार के बिना वाहन जल में डोलता है, उसी प्रकार की स्थिति शिष्ट-जन और अमात्य के बिना राज्य में होती है।

सुन्दर युवतियों के हाव-भाव से अथवा संगीत के मधुर आलाप से जिसका हृदय मुग्ध नहीं होता वह या तो पशु है या देवता।

सिरीसिरी वाल कहा

राया भणेइ पिच्छह अहह अहो उत्तमाण नीयाणं।
केरिसमंतरमेयं अमिअविसाणं व संजायं ॥७४२॥

धवलो करेइ एरिसमणत्थमुवगारिणो वि कुमरस्स।
कुमरो एयस्स अणत्थकारिणो कुणइ उवयारं ॥७४३॥

जह जह कुमरस्स जसं धवलं लोयंमि वित्थरइ एवं।
तह तह सो धवलो वि हु खणे खणे होइ कालमुहो ॥७४४॥

तहवि कुमारेणं सो आणीओ नियगिहं सबहुमाणं!
भुन्जाविओ अ विस्सामिओ अ नियचंदसालाए ॥७४५॥

तत्थ ठिओ सो चिंतइ अहह अहो केरिसो विही वंको।
जमहं करेमि कज्जं तं तं मे निष्फलं होइ ॥७४६॥

एवं ठिएवि अज्जवि मारिज्जइ जइ इमो मए कहवि।
ता एयाओ सिरीओ सव्वाओ हुंति मह चेव ॥७४७॥

अन्नं च इत्थ सत्तमभूमीए सुत्तओ इमो एक्को।
ता हणिऊणं एयं रमणी वि बलावि माणेमि ॥७४८॥

इय चिंतिऊण हिट्ठो धिट्ठो दुट्ठो निकिट्ठपाविट्ठो।
असिधेणुं गहिऊणं पहाविओ कुमरहणणत्थं ॥७४९॥

उम्मग्गमुक्कपाओ पडिओ सो सत्तमाओ भूमीओ।
छुरियाए उरे विद्धो मुक्को पाणेहिं पावुत्ति ॥७५०॥

सो सत्तमभूमीओ पडिओ पत्तो अ सत्तमिं भूमिं।
नरयस्स तारिसाणं समत्थि ठाणं किमन्नत्थ ? ७५१॥

अनुवाद

राजा ने कहा, "अहह, देखिये, उत्तम और नीच का कैसा अन्तर होता है, जैसे अमृत और विष।

"धवल ने अपने उपकारी कुमार के साथ ऐसा अनर्थ किया, पर कुमार ने ऐसा अनर्थ करने वाले के प्रति उपकार ही किया।"

जैसे-जैसे कुमार का धवल यश लोक में फैला, वैसे-वैसे वह धवल भी क्षण-क्षण में कलमुँहा होता गया।

तो भी कुमार उसे अपने घर ले आया बड़े मान के साथ। और अपनी चन्द्रशाला में भोजन भी कराया, विश्राम भी।

वहाँ ठहरे हुए उसने सोचा, "अहो, प्रारब्ध कितनी टेढ़ी है कि मैं जो कार्य करता हूँ वही निष्फल होता है।

"इस स्थिति में आज भी यदि वह किसी तरह मारा जाय तो यह सब श्री मेरी ही हो जायगी।

"अन्य बात भी है : वह (मकान की) सातवीं भूमि पर अकेला सोया है, तो उसे मारकर उसकी स्त्री को बलपूर्वक मना लूँगा।"

यह सोचकर वह हेठा, ढीठ, दुष्ट, निकृष्ट पापी छुरा लेकर कुमार को मारने के लिए दौड़ा।

कुमार्ग पर पैर पड़ जाने के कारण वह सातवीं भूमि पर से गिर पड़ा और छुरा हृदय में लग जाने से वह पाप-वृत्ति प्राणों से मुक्त हुआ।

सातवीं भूमि से गिरकर वह नरक की सातवीं भूमि में जा पड़ा। भला ऐसों को अन्यत्र स्थान भी कहाँ है?

प्राकृत-काव्य

कुछ वर्ष पहले तक यह समझा जाता था कि प्राकृत जैन भाषा है और इसमें जैन-धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु आधुनिक अन्वेषणों ने प्राकृत की साहित्य-सम्पत्ति जो बाहर लाकर दिखाई तो सहृदय जन गद्गद् हो उठे। अब जो लौकिक साहित्य प्रकाश में आया है तो उसमें 'सेतुबन्ध', 'गौडवहो', 'गाथासप्तशती', 'वज्जालग्ग' प्रभृति ऐसे देदीप्यमान ग्रन्थ-रत्न मिले जिनकी प्रभा ने बड़े-बड़े पण्डितों को चकाचौंध कर दिया है। प्राकृत-काव्यों की सरसता और मधुरता को सभी आलोचकों और आचार्यों ने स्वीकार किया है।

ये काव्य प्रायः माहाराष्ट्री में हैं। इनके दो वर्ग किये जा सकते हैं— प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक काव्य। प्रबन्ध-काव्यों में महाकाव्य भी हैं, खण्ड-काव्य भी। महाकाव्यों में आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सभी गुण विद्यमान हैं। कथा के संगठन का कौशल, शैली का अलंकरण, प्रकृति के दृश्यों का संश्लिष्ट वर्णन, शब्दों का कलापूर्ण चयन, अर्थ-गाम्भीर्य आदि-आदि महा-काव्य की सारी विशेषताएँ इनमें भरी हैं। एक बात ध्यान देने योग्य है। पिछले अध्याय में वर्णित जैन-प्रबन्धों को भी लौकिक काव्यों की कोटि में लिया जा सकता है। उन प्रबन्धों पर बहुत झीना-सा आवरण धार्मिकता का है। कथावस्तु प्रायः लौकिक है, कभी-कभी अर्द्धैतिहासिक है। केवल अन्त में प्रधान पात्रों का जैन धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाना उन्हें नितान्त

धार्मिक नहीं बना देता। हमें तो जैन-कथा 'लीलावई' और लौकिक कथा 'सुरसुन्दरी' की शैली और प्रबन्धात्मकता में विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। हम हेमचन्द्र-कृत 'कुमारपाल-चरित' को लौकिक साहित्य की संज्ञा से वंचित करने में संकोच का अनुभव करते हैं। इस तथ्य की दृष्टि से प्राकृत का प्रबन्ध-काव्य बड़ा विशाल है।

प्राकृत का मुक्तक काव्य भी हमारे साहित्य का परम रमणीय अंग है। इसकी परम विशेषता यह है कि इसमें लोक-जीवन के विविध पटलों की सजीव अभिव्यक्ति हुई है। संस्कृत में जो कल्पना और आचार्यत्व का प्राधान्य था वह प्राकृत के मुक्तक पद्यों में नहीं है। इनमें अनुभूति और कल्पना का सुन्दर सामञ्जस्य है। सत्य और सुन्दर, जीवन और काव्य का सम्मिश्रण है। इसीसे इनमें मार्मिकता अधिक है। इनमें रागात्मक वृत्तियों का विकास स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इनका अधिकतर वर्ण्य विषय शृङ्गार, नीति, धर्म तथा प्राकृतिक सौन्दर्य है। वीर, रौद्र अथवा भयानक रस के लिए इनमें प्रायः स्थान नहीं है। प्राकृत मुक्तकों का-सा लालित्य, माधुर्य और उल्लास अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी-सी व्यंग्यार्थ की सुन्दरता सर्वत्र नहीं मिलती।

बड़े-बड़े सुन्दर गीत प्राकृत और संस्कृत के नाटकों में आए हैं। इनका अलग से अभी संकलन नहीं हुआ। 'कपूर मंजरी' और 'चन्द्रलेखा' सट्टक के प्रकृति-सम्बन्धी पद्य, 'अभिज्ञानशाकुन्तल', 'प्रियदर्शिका', 'मृच्छकटिक' तथा 'विक्रमोर्वशीय' आदि के शृङ्गार-रस-सिक्त गीत बहुत ही मनोहर हैं। इस अध्याय के उत्तरार्द्ध में हम नाटकेतर गीति-साहित्य की ही चर्चा करेंगे।

प्रबन्ध-काव्य

सेतुबन्ध (रावण वध)—प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है। इसके १५ आश्वासों (सर्गों) में से प्रथम आठ में नल-नील तथा वानरों द्वारा समुद्र पर सेतु बाँधने का वर्णन है। दण्डी, बाण आदि ने 'सेतुबन्ध' अथवा 'सेतु' नाम से ही इसका उल्लेख किया है। उत्तरार्द्ध में

रावण-वध तक की घटनाओं का वर्णन है। इसलिए इसका दूसरा नाम 'रावण-वध' भी उपयुक्त है। पुष्पिकाओं में 'दसमुहवह' (दशमुख वध) नाम भी मिलता है। कथा का आधार 'वाल्मीकीय रामायण' का युद्ध काण्ड है। कथानक में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। कथांश बहुत संक्षिप्त है। विरह-सन्तप्त राम हनुमान द्वारा सीता का समाचार पाकर लंका की ओर चल देते हैं। मार्ग में समुद्र की बाधा उपस्थित हो जाने के कारण रुक जाते हैं। यहीं पर विभीषण उनसे आ मिलते हैं। वानर-सेना समुद्र पर सेतु बाँधती है। सेतु बाँधने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यहाँ पर कई अन्तर्कथाओं की कल्पना की गई है। राम समुद्र पार करके लंका में प्रवेश करते हैं और रावण तथा कुम्भकर्ण आदि का वध करके सीता को छुड़ा लाते हैं। कथा का अन्त श्रीराम के अभिषेक के साथ ही हो जाता है।

कृति के पूर्वार्द्ध में समुद्र, पर्वत, फेन, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि बीसियों प्राकृतिक दृश्यों के बड़े सुन्दर और काव्यात्मक वर्णन हैं। कवि-कल्पना की जितनी सराहना की जाय कम है। उत्तरार्द्ध में मानव-प्रकृति के चित्रण में कवि की अनुभूति और गम्भीर एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिलता है। राम के क्षोभ, रावण की चिन्ता, सीता के त्रास, विभीषण की कृतज्ञता, राक्षसों की हड़बड़ी इत्यादि मानवीय भावनाओं का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। वानर और राक्षस-सेनाओं तथा उनके बीच के संग्राम एवं द्वन्द्व-युद्ध का वर्णन विस्तृत और चित्रमय ढंग से हुआ है। वीर-रस-प्रधान है। अन्य रसों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। दसवें आश्वास में कामिनी-केलि तथा राक्षसियों का संभोग-वर्णन और उनके रूप-गुण-सौन्दर्य का चित्रण बहुत अनूठा है। सूक्तियों का तो यह ग्रन्थ भाण्डार ही माना गया है।

'सेतुबन्ध' की भाषा शुद्ध साहित्यिक माहाराष्ट्री है। परवर्ती कृतियों की अपेक्षा इसमें समासों का प्रयोग अधिक हुआ है। इस दृष्टि से इस पर तत्कालीन संस्कृत शैली का गहरा प्रभाव है। छन्द भी संस्कृत का अपनाया

गया है और सम्पूर्ण कृति में एक ही छन्द (आर्या) प्रयुक्त है। सर्ग के अन्त में छन्द बदलता नहीं है।

इस कृति का प्रभाव संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश पर भी पड़ा है। इसके पीछे 'रावणवध', 'गौडवध', 'शिशुपालवध', 'कंसवध' आदि अनेक प्रबन्ध लिखे गए। इस ग्रन्थ पर कई टीकाएँ लिखी गईं जिनमें अकबर के समय के रामदास की 'रामप्रदीप' प्रसिद्ध है।

'सेतुबन्ध' के रचयिता कौन थे और उन्होंने कब इसकी रचना की, इसका अभी तक निर्णय नहीं हो सका। ग्रन्थ के शिखर में कहीं भी ग्रन्थ-कार का नाम नहीं मिलता; हाँ, सर्ग के अन्त में किसी-किसी पुष्पिका में प्रवरसेन का नामोल्लेख अवश्य हुआ है। दण्डी, बाणभट्ट, क्षेमेन्द्र आदि ने इसे प्रवरसेन की कृति माना है। दक्षिण के एक टीकाकार श्रीकृष्ण भी इसको प्रवरसेन की रचना मानते हैं। टीकाकार रामदास ने यह भ्रामक धारणा प्रचलित कर दी कि इसके रचयिता कालिदास थे। उनका कहना है कि विक्रमादित्य की आज्ञा से कालिदास ने इसे प्रवरसेन के लिए लिखा। किन्तु, रामदास सैकड़ों वर्ष बाद में हुए हैं; उनकी कल्पना का कोई आधार दिखाई नहीं देता। यह तो निश्चित है कि 'सेतुबन्ध' के लेखक प्रवरसेन थे। पर प्रवरसेन नाम से कई राजा हुए हैं—चार कश्मीर के और एक कुन्तल देश का। विद्वानों का मत है कि ये प्रवरसेन कश्मीर के राजा ही थे। प्रवरसेन प्रथम का जीवन-काल १२३-१८३ ई० और अन्तिम प्रवरसेन का समय ३९५ से ४२० ई० तक बताया जाता है। डॉ० सुशील कुमार दे ने इस रचना को पाँचवीं शताब्दी की माना है।

हमारा मत यह है कि प्रवरसेन राजा इसके रचयिता नहीं थे। उनके किसी आश्रित कवि ने उनके नाम से इसे चला दिया होगा। प्रायः राजाओं के नाम से जो कृतियाँ हमारे साहित्य में उपलब्ध हैं वे उनकी क्रीत सम्पत्ति हैं।

गौडवहो—'गौडवध' एक लौकिक चरित के आधार पर लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है। नाम से तो यह ज्ञात होता है कि इसमें गौड देश के किसी

राजा के वध का वर्णन होगा। परन्तु न तो गौडराज का कहीं नाम आता है और न ही उसके वध की कथा मिलती है। कदाचित् यह अधूरा काव्य मूल कृति का पूर्व भाग है। ऐसा कवि की अन्तिम सूचना से भी विदित होता है। कथानक ऐतिहासिक है। कन्नौज के राजा यशोवर्मा वर्षा ऋतु के बीत जाने पर गौड देश पर आक्रमण करने की तैयारी करते हैं। शरदागमन के साथ विजय-यात्रा का आरम्भ होता है। कन्नौज से मगध तक आने वाले दृश्यों एवं कालक्रमागत ऋतुओं का वर्णन कवि ने मार्मिकता से किया है। विजय-यात्रा का वर्णन भी काव्य-सौन्दर्यपूर्ण है। जब यशोवर्मा विन्ध्य पर्वत पर पहुँचते हैं तो इसका समाचार पाते ही गौडदेशाधिप भाग जाता है, किन्तु अन्त में मारा जाता है। इस घटना का उल्लेख-मात्र एक पद्य में हुआ है। यशोवर्मा अनेक पूर्वी नरेशों पर विजय प्राप्त करके कन्नौज लौट आता है। बंगदेश, पंजाब, अयोध्या, पारसीक देश, कन्नौज, कान्धार और मारवाड़ का वर्णन यथास्थान किया गया है।

जिस रूप में 'गौडवहो' प्राप्त है, उसे महाकाव्य की संज्ञा देना उचित नहीं है। ग्रन्थ का विभाजन सर्गों में न होकर कुलकों में हुआ है। कुलक एक पद्य-समूह होता है जिसके पद्य एक-दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं। ग्रन्थ में पद्यों की कुल संख्या १२०६ है। सबसे बड़े कुलक में १५० पद्य हैं और सबसे छोटे में केवल पाँच। वर्णन प्रायः शिथिल और अप्रासंगिक हैं। लेकिन ये वर्णन हैं सुन्दर, सजीव और अनूठे। ग्रामीण जीवन का चित्रण बहुत विस्तृत और अनुभूतिपूर्ण हुआ है। भाषा की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। अलंकारों और वक्रोक्तियों का सफल प्रयोग इसकी निजी विशेषता है। आद्योपान्त आर्या छन्द प्रयुक्त हुआ है।

ग्रन्थ में कवि का नाम बप्पइ राअ (वाक्पति राज) दिया गया है। वे कन्नौज में राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहते थे और इनके प्रिय कवि और मित्र थे। ग्रन्थ से यह भी अवगत होता है कि इसकी रचना यशोवर्मा की मृत्यु के कुछ ही वर्ष बाद आरम्भ की गई थी। इससे इसका रचना-काल आठवीं शती का पूर्वार्द्ध निर्धारित किया गया है।

महुमह विअअ—'मधुमखविजय' नामक एक और काव्य भी वाक्पति-राज ने लिखा था, ऐसा 'गौडवध' में उन्होंने स्वयं सूचित किया है। परन्तु अब इसके दो-तीन पद्य ही अलंकार-ग्रन्थों में बच गए हैं, कृति नष्ट हो गई है। कृति का उल्लेख बाद के अनेक आचार्यों ने किया है, इससे जान पड़ता है कि वह अवश्य ही महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध रही होगी।

लीलावई—'लीलावती' में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन[1] तथा सिंहल द्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रेम-कथा है। कुवलयावली राजर्षि विपुलाशय की अप्सरा रम्भा से उत्पन्न कन्या थी। उसने गन्धर्व-कुमार चित्रांगद से गन्धर्व-विवाह कर लिया। उसके पिता ने कुपित होकर चित्रांगद को शाप दिया और वह भीषणानन राक्षस बन गया। कुवलया-वली आत्महत्या करने को उद्यत हुई, पर रम्भा ने आकर उसको ढाढ़स बँधाई और उसे नलकूबर के संरक्षण में छोड़ दिया। यक्षराज नलकूबर का विवाह वसन्तश्री नाम की विद्याधरी से हुआ था जिससे महानुमती का जन्म हुआ। महानुमती और कुवलयावली दोनों सखियों का बड़ा स्नेह था। एक बार वे विमान पर चढ़कर मलयपर्वत पर गईं जहाँ सिद्धकुमारियों के साथ झूला झूलते हुए महानुमती और सिद्धकुमार माधवानिल की आँखें चार हुईं। घर लौटकर महानुमती बड़ी व्याकुल रहने लगी। उसने कुवलयावली को पुनः मलयदेश भेजा। परन्तु वहाँ जाकर पता चला कि माधवानिल को कोई शत्रु भगाकर पाताल-लोक में ले गए हैं। वापिस आकर उसने दुखी महानुमती को सान्त्वना दी। दोनों गोदावरी के तट पर भवानी की पूजा करने लगीं।

यहाँ पर प्रधान कथा का प्रवेश होता है। सिंहलराज की पुत्री लीला-वती का जन्म वसन्तश्री की बहन विद्याधरी शारदश्री से हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन (हाल) के चित्र को देखकर मोहित हो गई। बाद में उसने उसे स्वप्न में भी देखा। माता-पिता की

१. आगे देखिये 'गाथासप्तशती' के अन्तर्गत इनका कुछ और परि-चय।

आज्ञा लेकर वह अपने इष्ट की खोज में निकल पड़ी। उसका दल मार्ग में गोदावरी-तट पर आकर ठहरा, जहाँ उसे अपनी मौसी की लड़की महानुमती मिल गई। तीनों विरहिणी युवतियाँ एक-साथ रहने लगीं।

अपने राज्य का विस्तार करते हुए सातवाहन ने सिंहलराज पर आक्रमण करना चाहा। लेकिन, उसके सेनापति विजयानन्द ने सलाह दी कि सिंहल से मैत्री रखना ही अच्छा होगा। राजा सातवाहन ने विजयानन्द को ही दूत बनाकर भेजा। विजयानन्द नौका टूट जाने के कारण गोदावरी के तट पर रुक गया। उसे पता लगा कि सिंहलराज की पुत्री लीलावती यहाँ पर वास करती है। उसने सातवाहन को सारा वृत्तान्त आ सुनाया। सातवाहन सेना लेकर उपस्थित हुआ और लीलावती से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। परन्तु लीलावती ने यह कहकर इन्कार किया कि जब तक महानुमती का प्रिय न मिलेगा तब तक मैं विवाह नहीं करूँगी। राजा सातवाहन पाताल पहुँचा और माधवानिल को छुड़ा लाया। फिर भीषणानन राक्षस पर आक्रमण किया। चोट खाते ही भीषणानन पुनः राजकुमार बन गया। इस समय यक्षराज नलकूबर, विद्याधर हंस और सिंहल-नरेश वहीं एकत्र हुए। उन्होंने अपनी-अपनी पुत्री का विवाह तत्तत्प्रिय राजकुमार से कर दिया। यक्षों, गन्धर्वों, सिद्धों, विद्याधरों, राक्षसों और मानवों ने वर-वधुओं को अनेक सिद्धियाँ उपहार में दीं।

दिव्यलोक और मानव-लोक दोनों के पात्र इस कथा में होने के कारण कवि ने इसे 'दिव्य मानुषी' कथा कहा है। कृति में भवानी, गौरी, शिव और गणेश की पूजा का उल्लेख तथा देवताओं के शाप एवं वर का वृत्तान्त कई बार आया है। ज्योतिष, प्रारब्ध, संयोग, जादू-टोना आदि में कवि का दृढ़ विश्वास है। लेकिन इसका आधार धार्मिक नहीं है। इसे प्रेम-काव्य कहना ही समीचीन होगा। प्रेम का संयत और सन्तुलित चित्रण करने में कवि ने पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उसने प्रेमियों और प्रेमिकाओं की दृढ़ता की दीर्घ परीक्षा करके ही उन्हें विवाह-बन्धन में बाँधा है। कृति में जगह-जगह प्राकृतिक दृश्यों के बहुत सुन्दर वर्णन हैं। राजाओं के जीवन

का चित्रण बड़ा विस्तृत और काव्यात्मक है। प्रधान कथा के साथ अनेक उपकथाएँ गुम्फित हैं। इससे थोड़ी-बहुत उलझन की सम्भावना होती है। पर कवि का प्रबन्ध-कौशल सराहनीय है।

कृति सर्गों या उच्छ्वासों में विभाजित नहीं। एक निरन्तर कथा आद्योपान्त चलती है। शैली अलंकृत और साहित्यिक है। भाषा प्रवाह-पूर्ण और काव्योपयुक्त 'मरहट्ट देसि भासा' है। कहीं-कहीं गद्य का समावेश भी हुआ है।

कवि ने 'लीलावई' में अपने वंश का परिचय तो दिया है पर अपना नामोल्लेख नहीं किया। कृति के अज्ञातनामा टीकाकार ने लिखा है 'कुतूहलनाम्ना विप्रेण विरचितं लीलावती नाम कथारत्न श्रृणुत'। 'कोऊहल' नाम कुछ पद्यों में भी आया है। विद्वानों का कहना है कि कुतूहल ही इस प्रबन्ध-काव्य के रचयिता थे। इनका रचना-काल १०वीं शती के आस-पास माना जाता है; क्योंकि भोज (१०३०-१०५० ई०) ने 'लीलावती' का नामोल्लेख किया है और यह भी ज्ञात है कि ग्रन्थकार बाणभट्ट, हर्ष आदि की रचनाओं से परिचित थे। यह भी अनुमान किया गया है कि वे महाराष्ट्र के रहने वाले थे।

सिरिचिंध कव्वं अर्थात् 'श्रीचिह्न काव्यम्' बारह सर्गों में गाथाबद्ध माहाराष्ट्री रचना है। पहले आठ सर्ग कवि कृष्णलीलाशुक द्वारा, और अन्तिम चार उनके शिष्य दुर्गाप्रसाद द्वारा लिखे गए हैं। इसमें कृष्ण-लीला-वर्णन के साथ-साथ वररुचि और त्रिविक्रम के प्राकृत-व्याकरणों की व्याख्या उपस्थित की गई है। इस शैली में यह कृति संस्कृत के 'भट्टि-काव्य' और 'लक्षणादर्श' एवं प्राकृत के 'कुमारपाल-चरित' से मिलती-जुलती है। इस तरह इसमें पाण्डित्य तो है, पर रसपूर्णता नहीं है; क्योंकि यह साधारण पाठक के लिए दुर्बोध और नीरस है।

सोरि-चरित्त[1]—इसमें कृष्ण की कथा वर्णित है। भाषा कृत्रिम होते

१. भारत की साहित्यिक परम्परा और एकता का यह उज्ज्वल प्रमाण है कि आदि काल से देश के समस्त प्रदेशों में समय-

हुए भी शुद्ध और व्याकरण-सम्मत है। आद्योपान्त यमक का प्रयोग किया गया है। इससे कवि के पाण्डित्य का प्रभाव तो पड़ता है, पर दुरूहता तथा कृत्रिमता और भी बढ़ जाती है। इसके रचयिता श्रीकण्ठ का समय १६वीं शताब्दी के लगभग अनुमान किया जाता है। वे मालाबार के रहने वाले थे।

'उसाणिरुद्ध', 'कंसवहो'—'उषानिरुद्ध' और 'कंसवध' भागवत पुराण के आधार पर लिखे गए खण्ड-काव्य हैं। दोनों में चार-चार सर्ग हैं। प्रथम का अन्त नायक-नायिका के विवाह के साथ होता है और दूसरे का कंस के नाश के साथ। 'कंसवध' में प्रसंगवश कृष्ण की बाल-लीलाओं का भी निर्देश किया गया है। इसमें २३३ पद्य हैं। 'उषानिरुद्ध' में २८० पद्य हैं। दोनों काव्यों में अनेक संस्कृत छन्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा शुद्ध माहाराष्ट्री है। इनके रचयिता केरल-देशवासी रामपाणिवाद थे। 'पाणिवाद्य' का अर्थ है ढोल। पाणिवाद नाम की मालाबार में नाटक खेलने वाली एक जाति थी। ढोल और मुरज बजाना इसका काम था। रामपाणिवाद का एक एकांकी नाटक भी प्राकृत में प्राप्त हुआ है।[1] इनकी रचनाएँ संस्कृत और मलयालम में भी हैं। इनका जीवन-काल सन् १७०७ से १७७५ ई० तक माना गया है।

अप्राप्य—सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में जो हलचल हुई उसमें

समय पर राष्ट्रभाषा में साहित्य-रचना होती रही है। संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के अनेक साहित्यकार और पण्डित दक्षिण में हुए हैं। प्राकृत में 'सोरि-चरित्र', 'उसाणिरुद्ध' तथा 'कंसवहो' आदि प्रबन्ध-काव्य, 'चन्द्रलेखा', 'लीलावती' आदि नाटक उन्हीं राष्ट्रीय साहित्यकारों में से कुछ की उपलब्ध कृतियाँ हैं। इनमें संस्कृत का प्रभाव स्पष्ट है; और ऐसा जान पड़ता है कि कवि पहले संस्कृत में कल्पना करते थे और फिर प्राकृत-व्याकरण के अनुसार उसे ढाल लेते थे।

१. देखिये अगला अध्याय।

युग-युग की कला-सम्पत्ति नष्ट हो गई। जो कुछ बचा उसमें हमारा सौभाग्य ही था। लेकिन हमारे दुर्भाग्य के कारण बहुत-कुछ कालकवलित हो गया। हो सकता है कि खोज से कुछ कला-कृतियाँ उपलब्ध हो जायँ। प्राकृत के अनेक प्रबन्ध-काव्यों का उल्लेख इधर-उधर मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' में 'हरिविजय' नाम की एक कृति का उल्लेख करते हुए उसे सर्व-गुण-सम्पन्न काव्य कहा है और इसके रचयिता का नाम सर्वसेन बताया है। 'ध्वन्यालोक' में भी इसकी चर्चा हुई है। इससे अनुमान किया जाता है कि यह ग्रन्थ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण रहा होगा।

हेमचन्द्र ने 'रावणविजय' नामक प्राकृत-महाकाव्य से उदाहरण देते हुए उसके वर्णनों की प्रशंसा की है। 'साहित्यदर्पण' के लेखक विश्वनाथ ने अपने ही एक प्राकृत-महाकाव्य 'कुवलयाश्वचरित' का नामोल्लेख करते हुए उसमें से स्कंधक छन्द में एक पद्य उद्धृत किया है। ध्वनि-टीकाकार अभिनव गुप्त ने अपने उपाध्याय भट्ट इन्दुराज की किसी प्राकृत कृति की ओर संकेत किया है।

परन्तु जब तक ये कृतियाँ प्रकाश में नहीं आतीं इनके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मुक्तक काव्य

गाहासत्तसइ—'गाथासप्तशती' की गणना संसार के श्रेष्ठ काव्यों में की जाती है। इसमें सात सौ से कुछ ऊपर अनेक प्राकृत-कवियों के मुक्तक गाथा-पद्य संगृहीत हैं। मुक्तक पद्यों की रचना प्रबन्ध-रचना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य और कठिन मानी गई है। यह साधारण कवि का कार्य नहीं है; क्योंकि मुक्तक के प्रत्येक पद्य में रस, अर्थ और प्रसंग की पूर्णता होनी चाहिए एवं कल्पना और अनुभूति का संगठन और स्वतन्त्र भाव होना चाहिए। महाकाव्य, खण्डकाव्य, आख्यायिका आदि में तो पाठक का मन कथा-रस में लीन रहता है, काव्य के गुण-दोष का बहुत विचार वह नहीं करता। मुक्तक में कथा का अवलम्ब होता नहीं। पूर्वापर-सम्बन्ध से निरपेक्ष होने के कारण मुक्तक पद्य रस-निर्भर रहता है। इसमें वाच्यार्थ की

अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान होता है। कहते हैं कि 'गाथासप्तशती' के संग्रह-कर्ता ने एक करोड़ प्राकृत-पद्यों में से सात सौ उत्कृष्ट पद्य चुनकर यह ग्रन्थ सम्पादित किया था। इसका महत्त्व इस बात से आँका जा सकता है कि 'ध्वन्यालोक', 'तल्लोचन', 'सरस्वती-कण्ठाभरण', 'काव्यप्रकाश' आदि काव्य-शास्त्रों में इसकी गाथाओं को आदर्श के रूप में उदाहृत किया गया है। रुद्रट, वाग्भट्ट, विश्वनाथ, गोवर्धनाचार्य[1], बाणभट्ट, राजशेखर इत्यादि आलोचकों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है और कुछ-एक का तो कहना है कि ऐसी सरसता संस्कृत में कठिन है। इसके अनुकरण में कई सप्तशतियाँ लिखी गईं—संस्कृत में 'आर्यासप्तशती' आदि और हिन्दी में 'मतिराम सतसई', 'बिहारी सतसई', 'वृन्द सतसई' आदि इसीकी परम्परा में आती हैं।

'गाथासप्तशती' की टीकाओं से ऐसा लगता कि इसमें विलास और शृंगार-सम्बन्धी पद्य ही हैं। पर बात ऐसी नहीं है। शृंगार इसका प्रधान विषय है। इसमें युवक-युवतियों, नायक-नायिकाओं, विशेषतया अनेक प्रकार की स्त्रियों—साध्वी, कुलटा, पतिव्रता, वेश्या, स्वकीया, परकीया, संयमशीला, चंचला, वियुक्ता, संयुक्ता, परित्यक्ता, आशान्विता, निराशाकुला की मनःस्थितियों और भावनाओं का चित्रण किया गया है। प्रेम की अनेक अवस्थाओं की व्याख्या बड़े स्वाभाविक और मार्मिक ढंग से की गई है। प्रेम की भूमिका में रमणीक ग्राम, लहलहाते खेत, वेतस-निकुञ्ज, पलाल-पुञ्ज, निर्जन वन, निर्झर, नाले, जोहड़, तालाब आदि के अनूठे और यथार्थ वर्णन इसकी अपनी विशेषता हैं। हलिकपुत्रों, कृषकों, ग्रामवधूटियों, गोपियों, अहीरिनों, कृषक-पत्नियों आदि की दिनचर्या, उनकी वेश-भूषा, उनका निराडम्बर जीवन, उनके आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज,

१. गोवर्धनाचार्य की यह उक्ति 'कि वाणी प्राकृतसमुचितरसा बलेनैव संस्कृतं नीता' प्रमाणित करती है कि वे इस कृति पर मोहित थे और सम्भवतः उन्होंने अपनी 'आर्यासप्तशती' में अनेक प्राकृत-गाथाओं को संस्कृत में रूपान्तरित किया होगा।

व्रत-नियम, तीज-त्योहार, पूजा-पाठ, उनके सुख-दुःख, उनके अन्तर-बाहर के काव्यपूर्ण चित्र अन्यत्र सुलभ नहीं हैं। प्राकृतिक स्थानों के मनोहारी वर्णन के साथ मेघ, विद्युत्, पवन, मयूर-नृत्य, काक-केलि, शुक-पंक्ति आदि और यथावसर ऋतुओं के स्वभाव-चित्रण इस कृति के बाहर सौ सत्तसइयों में भी न मिलेंगे। कहीं-कहीं नीति-व्यवहार के उपदेश और सुभाषित मिल जाते हैं। ज्योतिष, वैद्यक आदि के ज्ञान की भी अनेक बातें इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। शृंगार-रस की प्रधानता अवश्य है।

'गाथासप्तशती' की भाषा साहित्यिक माहाराष्ट्री है। वातावरण के अनुकूल देशी शब्दों का व्यवहार भी यथास्थान हुआ है। मुहावरों और लोकोक्तियों का इसमें से एक सुन्दर संग्रह किया जा सकता है। शृंगार-रस के पद्यों में ललित पदावली का प्रयोग किया गया है। व्यंग्यपूर्ण उक्तियों में भाषा प्रखर हो गई है। उपमाओं का अनूठापन इस कृति की एक और विशेषता है। परम्परागत पिटी-पिटाई उपमाओं और रूपकों का प्रयोग इसमें प्रायः नहीं मिलता। मौलिकता से भरपूर यह काव्य-रत्न विश्व-साहित्य में सदा आबदार रहेगा।

कृति में संग्रहकर्ता का नाम नहीं मिलता। कुछ पुष्पिकाओं में 'कवि-वत्सल' उपनाम आता है। अनुमान किया गया है कि कविवत्सल महाराज सातवाहन (अथवा सालवाहन) उपनाम शातकर्णि प्रतिष्ठान (पैठण) के राजा थे। सातवाहन नाम से कश्मीर के भी एक राजा हुए हैं, परन्तु 'गाथा' के संकलनकर्ता वे नहीं थे। 'गाथा' के सातवाहन दक्षिण ही के रहे होंगे; क्योंकि इसमें विन्ध्य, नर्मदा, गोदावरी आदि स्थलों का जो वर्णन दिया गया है, व्रतविशेषों, उत्सवों और आचारविशेषों का जैसा विवरण आता है एवं द्रविड़ शब्दों का जो व्यवहार हुआ है; उनसे वे आंध्र देश के निवासी निश्चित होते हैं। 'हर्षचरित' में बाण ने सातवाहन को प्राकृत के सुभाषित-रत्नों का संकलनकर्ता कहा है। यह सातवाहन ६६ ई० के आस-पास हुए हैं; क्योंकि शकाब्द इन्हींका चलाया हुआ है। बृहत्कथाकार गुणाढ्य, व्याकरणाचार्य शर्ववर्मा आदि अनेक विद्वान् इनके राज-दरबार की

शोभा थे। वे ही 'कविवत्सल' थे। हाल भी इन्हींका उपमान था। कहते हैं कि जब वे लीलावती नाम की सिंहलकुमारी[1] के विरह में इधर-उधर भटकते रहे थे तब उन्होंने अनेक गाथाओं की रचना की थी। कृति में लगभग ७० प्रतिशत गाथाओं के कवियों के नाम ज्ञात हैं। अनुमान किया गया है कि जिनके आगे कवि का नाम नहीं आता उनमें से अधिकांश हाल (सातवाहन) की मौलिक रचनाएँ हैं। कुछ के साथ 'हाल' कवि का नाम दिया भी गया है।

वज्जालग्ग—यह भी प्राकृत की बहुत प्रसिद्ध सत्तसई है। इसमें निर्दिष्ट गाथाओं की संख्या ७९४ है। गाथाएँ अलग-अलग विषयों के अन्तर्गत संगृहीत हैं। ऐसे विषयों को वज्या कहा गया है। इनकी संख्या ४८ है। कुछ वज्या-शीर्षक इस प्रकार हैं—सज्जन, दुर्जन, मित्र, नीति, धैर्य, साहस, दैव, दारिद्रय, सेवक, स्वामी, गज, सिंह, व्याध, हरिण, हंस, चन्द्र, नयन, स्तन, लावण्य, प्रेम, मान, विरह, पुरुषोल्लास, दूती, सुगृहिणी, सती इत्यादि। इनके अन्तर्गत मानव-प्रकृति और मानवेतर प्रकृति के अनेक पक्ष वर्णित हैं। शृंगारिक पद्यों की संख्या ५० प्रतिशत से कम है। इनमें नख-शिख-वर्णन, नायक-नायिका-वर्णन, प्रेम के संचारी भावों, अनेक विभावों और अनुभावों का चित्रण, संयोग और विप्रलम्भ शृंगार की अनेक अवस्थाओं की व्याख्या की गई है। यद्यपि इसके रचयिता अथवा सम्पादक श्वेताम्बर मुनि हैं तो भी इनमें जैन धर्म का कहीं निर्देश नहीं मिलता। गाथाओं के कवियों के नामों का कोई संकेत नहीं किया गया। इसके अनेक छन्द रुय्यक, जयरथ, सोमेश्वर, विश्वनाथ, हेमचन्द्र आदि अलंकार-शास्त्रियों की कृतियों में भी मिलते हैं। 'वज्जालग्ग' के एक पद्य में कहा गया है कि विविध कवियों के द्वारा विरचित कविताओं में से गाथाएँ चुनकर 'वज्जालग्ग' तैयार किया गया। संकलनकर्ता का नाम जयवल्लभ सूरि ज्ञात है; लेकिन इनके सम्बन्ध में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। इनका जीवन-काल अनुमानतः १३वीं-१४वीं शताब्दी ईसवी के बीच में माना गया है।

---

1. देखिए पीछे 'लीलावती' प्रबन्ध-काव्य का वृत्तान्त।

प्रायः गाथाओं का साहित्यिक स्तर काफ़ी ऊँचा है। कल्पना और अनुभूति की छटा अनेक स्थलों पर मिलती है। वाक्चातुर्य, गठन और प्रभाव की दृष्टि से कई पद्य प्रशंसनीय हैं। बीसियों सुभाषित अपनी रमणीयता में अद्वितीय हैं।

विषमवाणलीला—आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक'[1] में स्वचरित इस प्राकृत-कृति का उल्लेख किया है। इसके कुछ पद्य इधर-उधर[2] बिखरे पड़े और टीकाकारों द्वारा उद्धृत प्राप्त होते हैं। कृति अप्राप्य है। उपलब्ध पद्यों और 'विषमवाणलीला' नाम से विदित होता है कि यह शृंगार रस के मुक्तक छन्दों का संग्रह रहा होगा। कल्हण की 'राजतरंगिणी' से ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धनाचार्य कश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के राज्य-काल (सन् ८५७ .८४ ई०) में विद्यमान थे। वे कश्मीरे थे, यह उनकी राजानक उपाधि से भी स्पष्ट है।

मदन-मुकुट—नायक-नायिका-भेद पर यह एक-मात्र कृति ज्ञात है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। इसकी ८१ गाथाएँ प्रकाशित हुई हैं। ग्रन्थ परिच्छेदों में विभक्त है और ऐसा लगता है कि लक्षणों की व्याख्या में मुक्तक पद्य उदाहृत किये गए हैं। पर जब तक सारी कृति प्रकाश में नहीं आ जाती, इसकी शैली पर कुछ कहा नहीं जा सकता। प्राप्त पद्यों की भाषा माहाराष्ट्री प्राकृत है और काव्यात्मकता असंदिग्ध है। रचयिता का नाम गोसल मिश्र निर्दिष्ट है, पर इनके देश-काल आदि के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है।

फुटकर पद्य—इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी समय में प्राकृत-काव्य अति उन्नत और समृद्ध रहा होगा। 'गाथासप्तशती' के टीकाकार ने ११२ कवियों का नामोल्लेख किया है, जिनकी कृतियों में से हाल ने चुनाव करके इस अमर कृति का सम्पादन किया था। राजशेखर की 'कर्पूरमंजरी' हरिउड्ढ, णन्दिउड्ढ, पोट्टिस, पालित्तअ, चम्पअराअ, मल्लसेहर आदि

१. काव्यमाला संस्करण, पृष्ठ ७६, १३६।

२. देखिए, 'लोचन' व्याख्या तथा कैवट की कृति में।

अनेक कवियों के नाम मिलते हैं। अनेक ऐसे भी रहे होंगे जिनका नाम तक मिट गया है। इन सबके काव्य क्या हुए, कहाँ गए, यह तो काल ही बता सकता है। काव्य-शास्त्रों में कुछ प्राकृत पद्य आदर्श उदाहरण के रूप में उद्धृत हैं। इससे जाना जा सकता है कि संस्कृत के पण्डितों तक में प्राकृत का महत्त्व स्वीकार किया गया था। 'नाट्य-शास्त्र', 'ध्वन्यालोक', 'लोचन', 'सरस्वती कण्ठाभरण', 'काव्यानुशासन', 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में बीसियों पद्य बच गए हैं।

भरत के *'नाट्य-शास्त्र'* में दो प्रकार के प्राकृत-पद्य हैं। रूपकादि के उदाहरण में माहाराष्ट्री के कुछ पद्य आये हैं। परन्तु भरत ने स्वयं माहाराष्ट्री नाम की किसी प्राकृत का संकेत नहीं किया। ध्रुवागीत शौरसेनी प्राकृत में हैं। इनकी संख्या १०० से कुछ ऊपर है। इनमें सूर्य, चन्द्र, मेघ, बिजली और शरद् आदि ऋतुओं का वर्णन है। प्राकृत भाषा और साहित्य के लिए इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। भरत साहित्य-शास्त्र के प्रथमाचार्य माने जाते हैं। उन्होंने प्राकृत के जिन पद्यों को अपनी कृति में स्थान देकर गौरवान्वित किया है, उनकी काव्य-गुण-सम्पन्नता निर्विवाद है। उनका समय ईसवी सन् की पहली शती निर्धारित किया गया है। इससे यह भी अवगत होता है कि उस काल में भी प्राकृत-काव्य पण्डितजन-मान्य हो गया था।

आनन्दवर्धन-कृत *'ध्वन्यालोक'* में ४५ पद्य प्राकृत के हैं। कुछ के आधार-ग्रन्थों के नाम भी दिये गए हैं; पर वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ये पद्य शृंगारात्मक हैं। इनकी कल्पना मधुर और सरस है। 'ध्वन्यालोक'[1] में पृष्ठ ७६, १३६, १८८ २७६, ३०३, ४७० आदि पर ये पद्य उद्धृत हैं।

'ध्वन्यालोक' के 'लोचन' टीकाकार अभिनव गुप्त ने दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते।

सबसे अधिक पद्य भोज-कृत *'सरस्वती-कण्ठाभरण'* में उदाहृत हुए हैं। इनकी संख्या ३५० के लगभग है। कुछ पद्य *'गाथासप्तशती'*,

१. काव्यमाला-संस्करण, १९२९।

'*सेतुबन्ध*', '*गौडवहो*', '*कर्पूरमंजरी*' आदि कृतियों से लिये गए, पर ५०% के आधार-ग्रन्थों का कुछ पता नहीं है। अधिकांश का विषय शृंगार है। इनके अतिरिक्त नीति, प्रकृति आदि विषयों पर पद्य हैं। भोज-राज धारानगरी के सुप्रसिद्ध परमारवंशीय राजा थे। वे कवि, साहित्य-रसिक और अनेक भाषाविद् विद्वान् थे। इनका समय सन् १०५० ई० से पूर्व समाप्त होता है।

धनञ्जय-कृत '*दशरूपकम्*' में २५ पद्य मिलते हैं, जिनमें १० अज्ञात कवियों के हैं। ये १० पद्य और कहीं उपलब्ध नहीं होते। धनञ्जय का समय सन् १००० ई० के आस-पास अनुमानित किया जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र के '*काव्यानुशासन*' और उसकी वृत्तियों में ८० प्राकृत-पद्य संगृहीत हैं। शृंगार-सम्बन्धी पद्यों के अतिरिक्त इनमें अनेक विषयों पर सूक्तियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त रुद्रट के '*काव्यालंकार*', रुय्यक के '*अलंकार-सर्वस्व*', जयरथ की '*अलंकार-विमर्शिणी*', सोमेश्वर के '*काव्यादर्श*', जयन्त की '*काव्यप्रकाश-दीपिका*', स्वयंभू के '*स्वयंभू छन्द*', विश्वनाथ के '*साहित्य-दर्पण*', पण्डितराज जगन्नाथ के '*रसगंगाधर*' आदि ग्रन्थों में अनेक प्राकृत-पद्य पड़े हैं, जिनके रचयिताओं का कुछ भी पता नहीं है

अगले पृष्ठों में कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं :

गौडवहो

विन्ध्यवासिनी-स्तुति

वन्दी-कय-महिसासुर-कुल-कण्ठुम्मोइएहिव तुमाए ।
माहवि घण्टा-दामेहिँ मण्डियं तोरण-द्दारं ॥ २८५ ॥

दिट्ठं साहेज्जारूढ-तुहिण-गिरी-खण्ड-दिण्ण-पीढं व ।
महिसासुरस्स सीसं तुह चलण-णह-प्पहा-भरियं ॥ २८६ ॥

सोहसि नारायणिरणिर णेउराराव-मिलिअ-हंस-उले ।
भवणम्मि कवालाविल-मसाण-राएणव भमन्ती ॥ २६१ ॥
तुह दारं थाम-त्थाम-दिण्ण-रुहिरोवहारमाभाइ ।
हर-पणय-रोस-विससिय-संज्झा-सयलावइण्णंव ॥ २६४ ॥

णिमिसंपि णेअ मुच्चइ आययणोवण-मण्डलं तुज्भ ।
संणिहिअ-कुमार मऊर-णेह-रसिएहिंव सिहीहिं ॥ २६६ ॥

वीर-विइण्ण-विकोसासिधेणु-करवाल-कन्ति कज्जलियं ।
दिअसम्मिवि देवि असङ्क-कोसियं गब्भ-भवणं ते ॥ ३०६ ॥

सुलहोवहार-रुहिर-प्पवाह-संभावणाए लिब्भन्ति ।
अरुण-पडाया-पडिमा-गब्भाओ सिला इह सिवाहिं ॥ ३१० ॥

गब्भीर-गब्भ-मन्द-प्पहाओ तुह देवि दीवमालाओ ।
उवहार-मुण्ड-केसन्धयार-मूढाओव खलन्ति ॥३१८ ॥

सीसम्मि कओ महिसस्स देवि मरणाय जोहि-संपण्णो ।
सोच्चिय जणस्स जाओ तुह चलणो मङ्गल-ट्ठाणं ॥ ३२४ ॥

पयइ-परिसुक्क-काया पुरओ संचरइ रेवई तुज्भ ।
इह सइ संणिहिय-महा-परेय-भय-मुक्कमासव्व ॥ ३२६ ॥

रूअंच्चिय णवर कराल-दारुणं काल-रत्ति-लीलाए ।
हिययं पुण ते करुणा-रसेण सइ वच्छलं चेअ ॥ ३२७ ॥

अनुवाद

बंदी किये गए महिषासुर के परिवार के गले से तुमने जो उतारी थीं उन्हीं घण्टों की रस्सियों से, हे माधवि (गौरि) (तुम्हारे मन्दिर का) तोरण-द्वार मंडित है। २८५। महिषासुर का सिर तुम्हारे चरण-नख की प्रभा से भरा हुआ ऐसे दिखाई देता है जैसे उस पर चढ़ने के लिए तुम्हारी सहायता करने के लिए (तेरे पिता) हिमाचल ने एक पीठिका बना दी हो। २८६। हे नारायणि ! नूपुरों की झन्कार से आकृष्ट हंसों से भरे अपने मंदिर में फिरती हुई ऐसी लगती हो जैसे कपालों से भरे श्मशान से अनुराग हो। २९१। तुम्हारा द्वार स्थान-स्थान पर दिये गए रुधिर के उपहार के कारण ऐसे चमकता है मानो शिव ने तुम्हारे प्रणय-रोष को ठंडा करने के लिए संध्या के टुकड़े बखेर रखे हों। २९४। क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़ते आँगन के उपवन को तेरे ये मोर, मानो निकट रहने वाले कुमार के मोर के साथ स्नेह हो गया हो इन्हें। २९९। वीरों द्वारा भेंट किये गए चमकते छुरों, धनुषों और तलवारों की कांति से छाये हुए तेरे भवन के मध्य भाग में, हे देवि, दिन में भी उल्लू शंकित नहीं होते। ३०६। तेरे लाल झंडे के प्रतिबिंब से भरी शिलाओं को गीदड़ यह समझकर चाटते फिरते हैं कि इन पर भेंट किया हुआ रुधिर-प्रवाह पड़ा है।३१०। हे देवि, तेरे दियों की मालाओं की प्रभा मंद पड़ गई है, तेरे भवन के मध्य भाग में गंभीरता होने के कारण और वे लड़खड़ा रहे हैं मानो उपहार में दिये गए मुण्डों पर के बालों के अंधकार से विमूढ़ हो गए हों। ३१८। हे देवि, महिषासुर के मारने के लिए उसके सिर पर रखा हुआ तेरा जो चरण है वही (भक्त) जन के लिए मंगल-स्थान हो गया है। ३२४। पहले ही से सूखी काया वाली रेवती (दासी) तेरे सामने आती है तो लगता है कि यहाँ सदा पड़े प्रेतों के महाभय से उसके शरीर का मांस हट गया है। ३२९। कालरात्रि की लीला करने वाली, हे देवि, तेरा रूप ही केवल कराल और दारुण है, हृदय तो तेरा करुण रस से वत्सल है। ३३७।

लीलावई

[अलकापुरी के यक्षराज नल कुवेर की पुत्री महानुमति और राजा विपुलाशय की पुत्री कुवलयावली सहेलियाँ थीं। एक बार सिद्धराज मलयानिल का पुत्र माधवानिल केरल से अलकापुरी आया। उसका प्रेम महानुमति से हो गया। कुछ समय बाद राजकुमार माधवानिल विद्याभ्यास कर रहा था कि उसे कोई शत्रु उठा ले गए। महानुमति को बड़ा दुःख हुआ।]

हा जीविएस हा सुयणु हा अणंत-गुण-भूमि हा दइय।
हा णिक्कारण-वच्छल कत्थ पुणो तं सि दीसिहसि॥ ७०८॥

जं पढम-दंसणाणंद-बाह-पडिपूरिएहिं अच्छीहिं।
सच्चविओ सि ण सुइरं तं इण्हिं किं णियच्छिस्सं॥ ७०९॥

जं तंगुलियाहरण-च्छलेण सुइरं णिपीडिओ तुम्हि।
सो मे तह लग्गो च्चिय अज्ज वि हत्थो ण वीसरइ॥ ७१०॥

दिण्णाइँ जाइँ माहविलयाइ जह तुह स-हत्थ-लिहियाइं।
अमय-मयाइँ व लेहक्खराइँ इण्हिं विसायंति॥ ७११॥

इय एवं बहुसो पलविऊण भणियं इमीए मह हुत्तं।
असमत्थाहं पिय-सहि तेण विणा जीविउं इण्हिं॥ ७१२॥

ता जुत्तमजुत्तं किं पि जं मए लंघियासि पणाएण।
तं मरिसेज्जसु पिय-सहि मरणमयाले कयं विहिणा॥ ७१३॥

ण य लज्जा ण य विणयो कुमारि-जणेइयं अणुट्ठाणं।
ण य सो पिओ ण मोक्खं तो किं हय- जीविएणम्ह॥ ७१४॥

···भणियं च मए पिय-सहि मा एवं भणसु किं ण याणासि।
जो जस्स हियम-दइओ मिलइ जियंतो जियंतस्स॥ ७१६॥

चिर-पवसिओ वि आवइ वाहि-ग्गाहिओ वि णिव्वुओ होइ।
बंधण-गओ वि मुच्चइ मओ त्ति झीणा कहा लोए॥ ७१७॥

अनुवाद

[महानुमति की मनोदशा का वर्णन कुवलयावली सुना रही है।]

महानुमति विलाप करने लगी—हा प्राणेश, हा सुतनु, हा अनन्त-गुणभूमि, हा प्रिय, हा निष्कारण वत्सल, तुम्हें फिर कहाँ देखूँगी ? ७०८।

जिस तुमको पहले ही दर्शन के समय आनन्दाश्रु भरे नेत्रों से चिर-काल तक नहीं देख पाई थी, अब कैसे देखूँगी ? ७०९।

यह मेरा हाथ सुख को आज भी नहीं भूलता जिसे तुमने अँगूठी पह-नाने के बहाने दबा दिया था। ७१०।

वे अमृतमय अक्षर जो तुमने अपने हाथ से लिखकर माधवीलता (नाम की मालिन) के द्वारा भेजे थे, अब विष हो गए हैं। ७११।

इस प्रकार बहुत विलाप करती हुई वह मुझे कहने लगी हे सखि, मैं अब उसके बिना जीती नहीं रह सकती। ७१२।

अतः युक्त अथवा अयुक्त जो कुछ मैंने तेरा अपराध किया हो तो उसे, हे प्यारी सखि, क्षमा कर देना। विधाता ने मेरा मरण-काल ला दिया है। ७१३।

न लज्जा रही, न विनय, न कुमारीजनोचित अनुष्ठान रह गया, न वह प्रिय रहा, न अब छुटकारा ही है, इसलिए मुझ अभागिन का जीना बेकार है। ७१४।

तब मैंने कहा—हे प्रिय सखि, ऐसा मत कह, क्या तू नहीं जानती कि जो जिसका प्यारा होता है वह उसे जीते जी मिल ही जाता है। ७१५।

विदेश गया हुआ भी लौट आता है, व्याधिग्रस्त होकर के भी फिर स्वस्थ हो जाता है, बन्धन में पड़कर भी मुक्त हो जाता है। हाँ अलबत्तः मर जाय तो उसकी कथा लोक में क्षीण हो जाती है। ७१६।

जीवन, जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) की सिद्धि का कारण होता है, जीव-लोक में दुर्लभ माना गया है, क्योंकि इसके बिना, हे प्रिय सखि, इष्ट का भोग नहीं हो सकता। ७१७।

सो तुज्झ पिओ पिय-सहि ण विवज्जइ णूण जुय-सएहिं पि ।
सच्चवियं तस्स मए दीहाउय-लक्खणं तइया ॥७१८॥

ता अलमिमिणा नरणाहिलास-समुहोवलग्ग भावेण ।
अहवा सो होही तुज्झ सुयणु आराहस भवाणी ॥७२०॥

सेतुबन्धम्

उत्थङ्घिअदुमणिवहा गिरिघाउव्वत्तमुच्छिअमहामच्छा ।
वेला सेलक्खलिया उद्धं भिज्जन्ति उअहिजलकल्लोला ॥७.५६॥

धरिआ भुएहि सेला, सेलेहि दुमा, दुमेहि घणसंघाआ ।
ण वि णज्जइ किं पवआ सेउं बन्धन्ति ओ सिरोन्ति
णहअलम् ॥७.५८॥

सेलसिलाहआ समुद्दोअरे मणीणं
चुण्णिज्जन्ति वित्थरा रअणागमणीणम् ।
भरइ णहङ्गणं अणिव्विरणमेहलाणं
हंसउलावलीण वणराइमेहलाणम् ॥७.६०॥

अत्यमिआण महिहाण समच्छरेहिं ।
परिमलि आइ वणगएहि समच्छरेहिं ।
साहइ कुसुमरेणुमइओ धओ व्वणाइं
अविरअणिम्महन्तमहुगन्धओव्वणाइं ॥७.६२॥

भमिओ अ तह धराहरपहरुच्छित्तसलिलो णहम्मि समुद्दो ।
महिहररअमइलाइं जह धोआईं समअं दिसाण मुहाइं ॥८.३१॥

अनुवाद

हे प्रिय सखि, वह तेरा प्रिय सैंकड़ों युगों[1] तक जीता रहेगा। मैंने उसके दीर्घायु के लक्षण देखे थे। ७१८।

इसलिए मरने (आत्महत्या करने) की अभिलाषा को छोड़ो, और वह तेरा पति हो इसके लिए भवानी की आराधना करो। ७२०।

सेतु-बन्धन

वृक्ष-समूहों को उखाड़कर, समुद्र-जल की लहरें जिनमें मछलियाँ पहाड़ के घात के कारण उलटकर मूर्च्छित हो गई हैं, तट के पर्वत से टकराकर ऊपर उठती हैं और फिर खंड-खंड हो जाती हैं। ७.५६।

भुजाओं पर बानरों ने पर्वत, पर्वतों ने पेड़ और पेड़ों ने घनसमूह उठा रखे हैं। जान नहीं पड़ता कि वे सेतु बाँध रहे हैं अथवा नभतल को नाप रहे हैं। ७.५८।

जौहरियों की मणियों के ढेर समुद्र में पड़े पर्वतों की चट्टानों से दबकर चूर-चूर हो गए। हंसों की पंक्ति से जो वनमाला की मेखला बनी थी उससे निर्मल आकाश भर गया। ७.६०।

अप्सराओं के सहित डूबते हुए पर्वतों के वन मत्त हाथियों ने रौंद डाले और उन वनों पर जिनके यौवन से मधु की सुगन्धि सदा निकलती रहती थी कुसुम-रेणु रूपी ध्वजा फहराती थी। ७.६२।

(नल द्वारा फेंके गए) पर्वतों के प्रहार से उछला है पानी जिसका वह समुद्र आकाश में घूम गया मानो उसने पर्वतों की धूलि से मैले पड़ गए दिशाओं के मुख एक बार में धो डाले हों। ८.३१।

---

१. युग = ४ वर्ष।

गाथासप्तशती

शृङ्गार

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।
छित्तो जेहिं पिअअमो ममं पि तेहि विअ करेहिं ॥१.१६॥

कल्लं किर खरहिअओ पवसिइहि पिओ त्ति सुणइ जणम्मि ।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥१.४६॥

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोऽसि ॥१.५०॥

णच्चणसलाहणणिहेण पास परिसंठिया णिउणगोवी ।
सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोलपडिमागअं कह्णम् ॥२.१४॥

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे ।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं कि त्थ देव्वेण ॥२.३२॥

जो कह वि मह सहीहिं छिद्दं लहिऊण पेसिओ हिअए ।
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥२.४४॥

अणणणं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउम् ।
तं णीरसाण दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥२.६६॥

स तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।
उव्वसिअणअर-घरदेवद व्व णोमालिअं वहइ ॥२.६४॥

विरहे विसं व्व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअम् ।
किं विहिणा समअं विअ दोहिं वि पिआ विणिम्मिअआ ॥३.३५॥

अनुवाद

अमृतमय, गगनशेखर, रजनीमुखतिलक चाँद ! छू दे।
हुआ है जिनसे प्रियतम को, मुझे भी उन्हीं किरणों से ॥

प्रातः निश्चित चला जायगा निष्ठुर प्रियतम, यह सुनकर
(बोली) इस प्रकार बढ़ो भगवति रात्रि जिससे कि प्रातः होने न पाये ॥

मेरा सुख पूछने मेरे दुर्लभ स्नेही को दूर से लाने वाले
हे उपकारी ज्वर, अब जान भी ले ले मेरी तो न होगा अपराध तेरा ॥

नाच की सराहना करने के बहाने पास ठहरी कोई चतुर गोपी
गोपियों के कपोलों में प्रतिबिम्बित कान्ह को चूमने लगी ॥

रूप आँखों में ठहरा है, स्पर्श अंगों में, बोली कानों में,
हृदय हृदय में धरा है, तब दैव ने वियोग क्या कराया ?

जो (मान) जैसे-कैसे मेरी सखियों ने छिद्र पाकर प्रवेश करा दिया हृदय में
वह मान चोर कामुक की तरह, देखते ही प्रिय को, भाग गया ॥

अन्य अन्य कुसुमरस को जो पीना चाहता है भौंरा,
तो इसमें दोष तो है नीरस कुसुमों का, भौंरे का नहीं है ॥

हे सुभग, वह (नायिका) तुम्हारे हाथ की दी हुई गन्धरहित अवमाला
(मर्दित माला)

को आज भी, नगर से उद्वासित गृहदेवता की तरह, धारण किये हुए है ॥

विरह में विष की तरह विषम, संयोग में अधिक अमृतमयी हो जाती
है प्रिया।

क्या विधि ने (विष और अमृत) दोनों की समान मात्रा में उसे बनाया
है ?

अच्छीइं ता थइस्सं दोहिं वि हत्थेहिं तम्मि दिट्ठम्मि ।
अंग कलम्बकुसुमं व पुलइअं कह णु ढक्किस्सम् ॥४.१४॥

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफँसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥४.२६॥

धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम् ॥४.९७॥

णिद्दं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति ।
जाहि ण दिट्ठो सि तुमं ताओ च्चिअ सुहअ सुहिआओ ॥५.१८॥

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा ।
दोतिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥६.८६॥

गम्मिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुरअ वड्ढअ मिअङ्को ।
दुद्धे दुद्ध मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे ॥७.७॥

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥७.४८॥

धवलो सि जइ वि सुन्दर, तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअम् ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥७.६५॥

अनुवाद

आँखों को तो छिपा लूँगी दोनों हाथों से उनके देखने पर
परन्तु कदम्ब-कुसुम के समान पुलकित अंग को कैसे छिपाऊँगी!

फूलों के होते हुए भी हैं अति प्रखर, स्पर्श-लाभ नहीं होता पर हैं
दुस्सहप्रताप, बींधते हुए भी प्रेम उत्पन्न करते हैं—काम के बाण बहु-
विकल्पी हैं।

धन्य हैं वे महिलाएँ जो अपने प्रिय को सपने में तो देख पाती हैं।
जिसको अपने प्रिय के बिना नींद ही नहीं आती, वह सपना क्या देखे!

नींद लाभ करती हैं, कहीं बात सुनती हैं, लड़खड़ाती वाणी नहीं बोलतीं।
हे सुभग, वही नारियाँ सुखी हैं जिन्होंने तुम्हें देखा नहीं है।

महिलाओं ही का दोष है जो प्रवास में गर्वित हो जाते हैं पुरुष।
दो तीन जब तक मर नहीं जातीं तब तक विरह समाप्त न होंगे।

जा रही हो उसके पास, सुन्दरि! जल्दी क्यों? चाँद बढ़ रहा है।
दूध में जैसे दूध, वैसे चाँदनी में तेरा मुखड़ा कौन देख पायेगा?

उसी की कथायें होती हैं, विकसती हैं, फिर उसी तक समाप्त होती हैं।
क्या मैं यह समझ लूँ, हे मौसी, कि वही एक युवक है इस ग्राम में॥

हे सुन्दर, तुम गोरे हो तो भी रँग दिया है तुमने मेरा हृदय।
और मेरा हृदय राग से भरा है, पर इसमें रखा तू रँगा नहीं जा सका।

गाथा सप्तशती

नीति

होन्ति वि णिप्फल च्चिअ धणरिद्धि होइ किविणपुरिसस्स ।
गिह्माअवसंतत्तस्स णिअअच्छाहि व्व पहिअस्स ॥२.३६॥

सरए महद्दहाणं अन्ते सिसिराइं वाहिरुह्णाइं ।
जाआइं कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइं सलिलाइं ॥२.८६॥

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि ।
आलिहिअभित्ति वाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥३.१७॥

सो अत्थो जो हत्थे तं मित्तं जं णिरन्तरं वसणे ।
तं रूअं जत्थ गुणा तं विण्णाणं जहिं धम्मो ॥३.४१॥

विण्णाणगुणमहग्घे पुरिसे वेसत्तणं पि रमणिज्जम् ।
जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥३.६७॥

कीरन्ती व्विअ णसइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती ।
सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥३.७२॥

जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विडड्ढविण्णाणा ।
दारिद्द रे विअक्खण ताण तुमं साणुराओ सि ॥७.७१॥

अनुवाद

रहती हुई भी निष्फल है धन-ऋद्धि कृपण-पुरुष की।
ग्रीष्म के आतप से संतप्त पथिक की जैसे अपनी छाया।।

शरद में महा तड़ागों के भीतर से ठंडे, ऊपर से गरम।
हो जाते हैं जल, कुपित सज्जन के हृदय की तरह।।

उसे मित्र बनाना चाहिए जो विपत्ति में, देशकाल में।
दीवार में बनी पुतली की तरह पराङ्मुख न हो जाये।।

वही धन है जो हाथ में हो, वही मित्र है जो निरंतर रहे विपत्ति में।
वही रूप है जिसमें गुण हो, वही विज्ञान है जहाँ धर्म हो।।

विज्ञान के गुण से भारी पुरुष के साथ विद्वेष भी रमणीय होता है।
लेकिन जन-निंदित पुरुष के साथ प्रीति करने में भी हमें लज्जा आती है।

बनती हुई भी नष्ट हो जाती है, उदक में रेखा की भाँति, खल की मैत्री।
वही सुजन में की गई (मैत्री) पाषाण-रेखा की तरह अमिट हो जाती है।।

जो-जो गुणी हैं, जो-जो त्यागी हैं, जो-जो विद्वान् विज्ञानी हैं
हे दारिद्रय चतुर ! उनसे ही तुम्हें प्यार है ना।।

वज्जालग्ग

सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जियं सुललियं फुडं महुरं ।
पुरोहि कहवि पावइ छन्दे कव्वं कलत्तं च ॥२४॥

दोहिं चिय पज्जत्तं बहुएहि वि किं गुरोहि सुयरास्स ।
विज्जुप्फुरिओ रोसो मित्ती पाहाणरेह व्व ॥४२॥

जं जि खमेइ समत्थो, धणवन्तो जं न गव्वमुव्वहइ ।
जं च सविज्जो नमिरो, तिसु तेसु अलङ्किया पुहवी ॥८७॥

झीणविहवो वि सुयणो, सेवइ रणं न पत्थए अन्नं ।
मरणे वि अइमहग्घं, न विक्किणइ माणमाणिक्कं ॥६४॥

किसिणिज्जन्ति लयन्ता, उदहिजलं जलहरा पयत्तेण ।
धवलीहुन्ति हु देन्ता, देन्तलयन्तन्तरं पेच्छ ॥१२७॥

दारिद्दय तुज्झ नमो, जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी ।
पेच्छामि सयललोए, ते मह लोया न पेच्छन्ति ॥१३६॥

जम्मदिणे थणनिवडण-भएण दिज्जन्ति धाइउच्छङ्गे ।
पहुणो जं नीयरया मन्ने तं खीरमाहप्पं ॥१४६॥

हरिणा जाणन्ति गुणा, रणे वसिऊण गेयमाहप्पं ।
ताणं चिय न त्थि धणं, जीयं वाहस्स अप्पन्ति ॥२१५॥

का समसीसी मालईए, सेसाण कुसुमजाईणं ।
जस्स वि गन्धविलित्ता, भमला भमलेहि पिज्जन्ति ॥२३३॥

'कइया गओ पिओ' 'पुत्ति अज्ज' 'अज्जेय कइ दिणा होन्ति' ।
'एक्को' एद्दहमेत्तो भणिउं मोहं गया बाला ॥३७६॥

विरहेण मन्दरेण व्व हिययं दुद्धोदहिं व्व महिऊण ।
उम्मूलियाइ अव्वो अम्हं रयणाइं व्व सुहाइं ॥२८१॥

अनुवाद

शब्द-सम्पन्न, दोष-रहित, सुन्दर, स्फुट एवं मधुर कविता तथा स्त्री बड़े पुण्य से कहीं प्राप्त होती है। २४।

सज्जन के अनेक गुणों से क्या, दो ही पर्याप्त हैं—बिजली की तरह आया-गया क्रोध एवं पत्थर पर लीक की तरह मैत्री। ४२।

सामर्थ्यवान जो क्षमा करे, धनवान जो गर्व न करे, विद्वान् जो नम्र हो—इन तीन से पृथ्वी अलंकृत है। ८७।

सज्जन क्षीणविभव हो जाने पर भी जंगल में चला जायगा पर किसी से माँगेगा नहीं। मरने पर भी बहुमूल्य मान-रूपी मणि को वह न बेचेगा। ६४।

बादल प्रयत्न से समुद्र-जल लेने में काले पड़ जाते हैं और देने में धवल हो जाते हैं—देने और लेने का अन्तर देख लो। १३७।

हे दारिद्रय, तुझे नमस्कार, क्योंकि तेरी कृपा से ऐसी ऋद्धि प्राप्त हुई है कि सब लोगों को मैं तो देखता हूँ, पर वे लोग मुझे नहीं देख पाते। १३६।

जन्म-दिन पर ही स्तनों के निचुड़ जाने के डर से बच्चे धाय की गोद में दे दिये जाते हैं इसलिए यदि पैसे वाले नीचगामी हों तो मैं इसे दूध का ही माहात्म्य मानता हूँ। १४६।

वन में रहते हुए हिरण ही संगीत के माहात्म्य को जानते हैं। उनके धन तो होता नहीं, अपने प्राण ही व्याध के प्रति अर्पित कर देते हैं। २१५।

क्या प्रतिस्पर्धा है मालती के साथ शेष कुसुमों की कि जिसकी गन्ध से लिप्त भौंरों को दूसरे भौंरे पीने लगते हैं। २३३।

'कब गया पिया ?' 'हे पुत्री, आज गया'। 'आज कहते-कहते कितने दिन हुए ? एक····'इतना मात्र कहकर वह बाला मूर्च्छित हो गई। ३७६।

विरह-रूपी मन्दराचल ने हृदय-रूपी क्षीरसागर को मथकर, अहो, हमारे रत्न रूपी सुख ही उन्मूलित कर दिये। ३८१।

अज्जं पुणा अवही, करेसु मुहमण्डणं पयत्तेण।
अज्ज समप्पइ विरहो, इन्ते वि पिए अइन्ते वि ॥३८२॥

खणमेत्तं संतावो सेओ सीयं तहेय रोमञ्चो।
अव्वो दुसहणिज्जो पियविरहो सन्निवाओ व्व ॥३८३॥

विसहरविसग्गिसंसग्गदूसिओ डहइ चन्दणो डहउ।
पियविरहे महचोज्जं अमयमओ जं ससी डहइ ॥३८७॥

जेहिं सोहग्गनिही दिट्ठो नयणेहि ते च्चिय रुवन्तु।
अङ्गाइ अपावियसङ्गमाइ ता कीस झिज्जन्ति ॥३८९॥

उवरि महं चिय मम्मह पत्र वि बाणा निसंस रे मुक्का।
अन्नं उण तरुणिजणं किं हणिहिसि चावलट्ठीए ॥३९२॥

कह सा न संभलिज्जइ जा सा नीसाससोसियसरीरा।
आसासिज्जइ सा सा जाव न सासा समप्पन्ति ॥४०२॥

मा उण्हं पियसु जलं, विरहिणिविरहाणलेन संतत्तं।
एत्थ सरे ए पन्थिय, गयवइवहुयाउ मज्जविया ॥४४१॥

दिट्ठो सि जेहि पन्थिय, जेहि न दिट्ठो सि बे वि ते मुसिया।
एक्काण हिययहरणं अन्नाण वि निप्फलं जम्मं ॥४४३॥

बन्धवमरणे वि हहा दुग्गयघरिणीए वि न तहा रुण्णं।
अप्पत्तबलिविलक्खे वल्लहकाए समुड्डीणे ॥४५६॥

अनुवाद

आज अवधि पूरी हो गई, यत्न करके हार-सिंगार कर लूँ। आज विरह समाप्त हो जायगा, प्रिय आये चाहे न आये। ३८२।

क्षण में ताप, क्षण में पसीना, क्षण में ठिठुरन, क्षण में रोमाञ्च, हाय, यह प्रिय विरह सन्निपात रोग की तरह दुस्सह्य है। ३८३।

साँपों की विषाक्त अग्नि के संसर्ग से दूषित चन्दन जलाये तो जलाए, पर बड़े अचरज की बात है कि प्रिय विरह में अमृतमय चन्द्रमा भी जलाता है। ३८७।

जिन नयनों से सौभाग्यनिधि (प्रियतम) को देखा, वे तो रोयें, पर भला ये अंग जिन्हें संगम (सुख) प्राप्त नहीं हुआ, वे क्यों क्षीण होते हैं। ३८६।

हे नृशंस मन्मथ, मेरे ही ऊपर तुमने पाँचों बाण छोड़ दिये हैं, तो अन्य स्त्रियों को क्या धनुष की लकड़ी से मारोगे। ३६२।

भला वह कैसे भुलाई जाय— वह जिसका शरीर निःश्वासों के कारण सूख गया है। उसे आश्वासन तो देना ही चाहिए जब तक उसके श्वास समाप्त नहीं हो जाते। ४०२।

गरम पानी मत पियो जो कि विरहिणी की विरहाग्नि से तप गया है। इस तालाब में, हे पथिक, प्रोषित-भर्तृका बहू ने स्नान किया है ना। ४४१।

हे राही, जिन्होंने तुम्हें देखा है और जिन्होंने नहीं देखा, वे दोनों ठगी गईं— उनका हृदय छिन गया, इनका जन्म निष्फल गया। ४४३।

बन्धु के मरने पर अभागी गृहिणी वैसे नहीं रोई जैसे बलि प्राप्त न होने के कारण प्रिय के काग के उड़ जाने पर। ४५६।

अलंकार-ग्रंथों से

सरस्वतीकंठाभरणम्

जो तीअ अहरराउ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण ।
सोच्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥
अज्ज मए तेण विणा अणुभूअ सुहाइ अणिसं भरन्तीए ।
अहिणवमेहाणं रवो णिसामिओ वज्झपडहो व्व ॥
एहिइ पिओ त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।
सेसं सतावपरव्वसाए वरिसं व बोलीणं ॥
कह कह विरएइ पअं मग्गं पुलएइ छेज्जमाविसइ ।
चोरव्व कई अत्थं लद्धं दुक्खेण ठाणेण णिव्वह ॥

काव्यानुशासन

कुलबालियाए पेच्छह जोव्वणलायण्णबिब्भमविलासा !
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिए घरं इन्ति ॥
दुण्ढिल्लिन्तु मरीहिसि कंटयकलियाइं केयइवणाइं ।
मालइकुसुमेण समं भमर भमन्तो न पाविहिसि ॥
ताला जायन्ति गुणा जाला ते सहिअएहिं धिप्पन्ति ।
रविकिरणाणुगहियाइं हुन्ति कमलाइं कमलाइं ॥
चंदमऊएहिं निसा णलिणी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लया ।
हंसेहिं सरयसोहा कव्वकहा सज्जणेहिं कीरई गरुई ॥

एक्कतो रुअइ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण अ भडस्स डोलाइअं हिअअं ॥

अनुवाद

सरस्वती कण्ठाभरण

जो तेरे अधर का राग रात में पोंछ डाला था प्रियतम ने, वही दिखाई दिया प्रभात में सपत्नियों के नयनों में आकर।

आज मैंने उनके बिना (उनसे विरहित हो) अनुभूत सुखों का निरन्तर स्मरण करते हुए नये बादलों के शोर को वध्यपटह (किसी के मारे जाने पर बजने वाले ढोल) की तरह शान्त कर दिया।

प्रिय आयेंगे, (इस आशा में) रात का प्रथमार्द्ध एक पल में बीत गया। सन्ताप से परवश हुई-हुई का शेष (द्वितीयार्द्ध) एक बरस के बराबर हो गया।

कैसे-कैसे पद-रचना करता है, मार्ग ढूँढ़ता है, क्षेत्र में प्रवेश करता है; चोर की तरह कवि अर्थ-प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े कठिन स्थलों में मारा-मारा फिरता है।

काव्यानुशासन

देखो तो, कुलबाला के यौवन, लावण्य, शृंगार और विलास उनके प्रवासी होने पर प्रवासी हो जाते हैं और उनके घर आ जाने पर लौट आते हैं।

ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मर जायगा, काँटों से भरे हैं केतकी के वन, मालती-कुसुम के समान इन तक तू पहुँच न पायगा, हे भ्रमर!

गुण तभी बनते हैं जब वे सहृदयों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। रवि-किरणों से अनुगृहीत होकर कमल-कमल बनते हैं।

चन्द्र-किरणों से रात्रि का, कमलों से सरोवर का, कुसुमगुच्छों से लता का, हंसों से शारद-शोभा का, सज्जनों से काव्य-कथा का महत्त्व बढ़ता है।

एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर रण-तूर्य बज रहा है। प्रेम और युद्ध-रस के बीच में योद्धा का हृदय डोलने लग गया।

: ५ :

नाटक-साहित्य

काव्य की अपेक्षा प्राकृत का नाटक-साहित्य बहुत थोड़ा है। संदर्भों से भी यही जान पड़ता है कि प्राकृत में नाटक कम लिखे गए। आज भी लोक-साहित्य के दो अंग प्रमुख हैं—काव्य और कथा। लोक-भाषा साहित्यिक प्रतिष्ठा को पाकर भी अपनी परम्परा से अकस्मात् अलग नहीं हो जाती। हिन्दी में सैकड़ों बरस तक साहित्य-रचना होती रही, पर उसकी सीमा भी काव्य और कथा तक ही बनी रह गई। प्राकृत की स्थिति हिन्दी से अवश्य अच्छी रही। नाट्याचार्यों ने जो दस प्रकार के रूपक और १८ उपरूपक गिनाये हैं उनमें भाण, डिम, वीथी, त्रोटक, सट्टक, गोष्ठी, प्रेंखण, रासक, हल्लीशक और भाणिका अवश्यमेव लोक-नाट्य के प्रकार हैं। ये शब्द ही प्राकृत के हैं, मूलतः संस्कृत के नहीं हैं। प्रहसन का प्रचार भी लोक में अधिक रहा होगा। इन नाट्यों में अधिकतर के पात्र वही हैं जिनसे नाटककार प्राकृत बुलवाते हैं। भाण में धूर्त्त अथवा विट; प्रहसन में पाषंडी, चेट, चेटी, विट, नीच पात्र और नपुंसक; डिम में गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच आदि; और भाणिका में मूर्ख पात्र होते हैं। त्रोटक में विदूषक का व्यापार अधिक होता है। सट्टक की सम्पूर्ण रचना ही प्राकृत में होती है। प्रेंखण का नायक भी हीन पुरुष होता है। हल्लीश में एक ही पुरुष होता है, स्त्रियाँ आठ-दस होती हैं। रासक या रासौ की लोक-परम्परा बहुत पुरानी है। परन्तु इन सबके उदाहरण

संस्कृत में ही हैं, प्राकृत में एक-दो रूपों की कृतियाँ उपलब्ध हैं। इसका मुख्य कारण यह दिखाई देता है कि नाटकों का अभिनय राज-दरबारों में ही सम्भव था और संस्कृत को राज्याश्रय प्राप्त था। राज-दरबारों में संस्कृत की कृतियों की रक्षा भी हो सकी। प्राकृत में नाटक कई तरह के लिखे गए होंगे, पर वे नष्ट हो गए। यह भी सम्भव है कि इस प्रकार के नाटक प्राकृत से अंशतः संस्कृत में रूपान्तरित हो गए और फिर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही बेकार हो गया। यह अनुमान किया जा सकता है कि 'मृच्छ-कटिक' प्रकरण, 'त्रिपुरदाह' डिम, 'रत्नावली' और 'विद्धशालभञ्जिका' नाटिकाएँ, 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक, 'रैवत-मदनिका' गोष्ठी, 'विलासवती' नाट्य-रासक, 'मेनकाहित' रासक और 'बिन्दुमती' दुर्मल्लिका पहले प्राकृत में रहे हों और फिर धीरे-धीरे संस्कृत छाया के व्यवहार की वृद्धि के साथ-साथ मिश्रित भाषा में कर दिये गए हों। आज यह अवस्था है कि संस्कृत के नाटकों में प्राकृत के पाठ को न देखकर लोग प्रायः संस्कृत-वाचना का ही पाठ करते हैं।

संस्कृत-नाटकों में

प्राकृत का प्रथम नाटकीय प्रयोग संस्कृत के नाटकों के अन्तर्गत ही मिलता है। पात्रों के लिए भाषाएँ नियत हैं। उच्च वर्ग के पुरुष और महिलाएँ, भिक्षुणी, अग्रमहिषी, राजमन्त्रियों की पुत्रियाँ, महिला कलाकार संस्कृत बोलती हैं। नाटक का नायक तथा उसके साथी (विदूषक को छोड़कर) संस्कृत का व्यवहार करते हैं। विदूषक, निम्नवर्ग के लोग, पेशेवर आदमी अनार्य, अप्सराएँ और प्रायः स्त्री-पात्र प्राकृत बोलते हैं। कहीं-कहीं रानी से भी प्राकृत बुलवाई गई है। 'मृच्छकटिक' में विदूषक कहता है कि दो वस्तुएँ हास्य की सृष्टि करती हैं—स्त्री के द्वारा संस्कृत का प्रयोग और पुरुष के द्वारा धीमे स्वर में गाना। कहीं-कहीं सूत्रधार संस्कृत में बात करता पाया जाता है, पर ज्यों ही वह स्त्रियों को सम्बोधित करता है तो प्राकृत का व्यवहार करने लगता है। जब नाटक को जीवन की वास्तविक अनुकृति कहा गया तो विचारों और भावों के माध्यम की अनुकृति भी तो

आवश्यक है। ११वीं शती तक जो नाटक लिखे गए उनमें जन-साधारण के लिए प्राकृत का प्रयोग स्वाभाविक ही है। जन-भाषा तो प्राकृत ही थी। आज भी पढ़े-लिखे लोग शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। नौकर-चाकर, नाई, धोबी, भंगी, चमार, कुली, कबाड़ी और घरों में स्त्रियाँ और बच्चे अपनी मातृभाषा ही बोलते हैं।

प्राकृत का सर्वप्रथम नाटकीय प्रयोग अश्वघोष (समय १०० ई० के आस-पास) की कृतियों में पाया जाता है। इनमें मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी के प्राचीन रूप उपलब्ध हैं। दुष्ट की भाषा मागधी, गणिका और विदूषक की शौरसेनी और तापस की अर्धमागधी है। अश्वघोष के 'सारीपुत्रप्रकरण', और दो अन्य अधूरे नाटक मिले हैं। इनमें प्रयुक्त प्राकृत से प्राकृत के आगामी स्वरूप को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

भास के १३ नाटकों में से 'अविमारक' और 'चारुदत्त' में प्राकृत का प्राधान्य है। इन्हें प्राकृत-नाटक कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'अविमारक' छः अंकों का नाटक है। इसमें राजा कुन्तिभोज की रूपवती कन्या कुरंगी के अविमारक नामक राजकुमार से प्रच्छन्न विवाह की कथा वर्णित है। 'चारुदत्त' के दूसरे अंक में संस्कृत है ही नहीं, चौथे अंक में केवल एक पात्र संस्कृत बोलता है। अन्य दो अंकों में प्राकृत भाषा का अधिक प्रयोग हुआ है, संस्कृत का कम। इस नाटक में सदाशय ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वेश्या वसन्तसेना का सच्चा स्नेह मार्मिक ढंग से वर्णित है। बाद में 'मृच्छकटिक' प्रकरण इसीके आधार पर लिखा गया प्रतीत होता है। भास के अन्य नाटकों में भी प्राकृत का सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'दूतवाक्य' और 'पंचरात्र' में प्राकृत नहीं है।

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास भी प्राकृत के बड़े प्रेमी थे। उनके नाटकों में कई दृश्य केवल प्राकृत में हैं, जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रवेशक। 'शाकुन्तल' में मछुए, पुलिस-कर्मचारी और सर्वदमन मागधी का, महिलाएँ और शिशु माहाराष्ट्री का, एवं नपुंसक ज्योतिषी और

विक्षिप्त शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। प्राकृत के सुकुमार शब्द-विन्यास के कारण एवं चुस्त मुहावरों और लोकोक्तियों के कारण नाटक में एक अपूर्व रमणीयता आ गई है। 'मालविकाग्निमित्र' का कथानक प्राकृत सट्टकों की परम्परा में आता है। इसमें राजमहिषी की परिचारिका मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रणय-कथा है। रानी की कैद में पड़ी मालविका से मिलने के लिए अग्निमित्र अनेक प्रयत्न करता है। अन्त में यह प्रकट हो जाता है कि मालविका जन्म से राजकुमारी है और तब उसका विवाह अग्निमित्र से हो जाता है। नाटक में अधिकतर स्त्रीपात्र हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। प्राकृत के संवाद बड़े चटकीले, सरस और सजीव हैं। 'विक्रमोर्वशीय' को प्राकृत-नाटक कह सकते हैं। इसमें राजा पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी की प्रेम-कथा वर्णित है। मेनका, रम्भा, सहजन्या, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सराएँ, विदूषक, राजमहिषी, चेटी, किराती, यवनी, तापसी आदि पात्र प्राकृत बोलते हैं। राजा और उनके साथियों की भाषा संस्कृत रहते हुए भी नाटक का वातावरण प्राकृतमय बना रहता है। सहजन्या के माहाराष्ट्री गीत बड़े मनोहर हैं।

श्रीहर्ष के 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' और 'नागानन्द' में प्राकृत का प्रचुर प्रयोग हुआ है। नाटिकाओं में प्राकृत से संस्कृत कम है। इनमें पुरुष पात्र थोड़े हैं। स्त्रियों, नौकरों, विदूषकों आदि की भाषा प्राकृत है। दुरूह शब्दों और कठिन समासों का अभाव है। 'नागानन्द' में संस्कृत का प्राधान्य है। इसमें भी नटी, विदूषक, चेटी, नायिका मलयवती, विट, किंकर, वृद्धा, प्रतिहारी आदि लगभग आधी संख्या में पात्र प्राकृत बोलते हैं। श्रीहर्ष के ये तीनों नाटक प्राकृत-नाटक-साहित्य में स्थान पा सकते हैं।

भवभूति में प्राकृत का प्रयोग तो मिलता है, पर उनके तीनों नाटकों में संस्कृत का ही प्राधान्य है। वे संस्कृत के महापण्डित थे। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में अनेक दृश्य प्राकृत में हैं (जैसे सातवें अंक के आरम्भ में), लेकिन इस नाटक का रुझान भी संस्कृत की ओर अधिक है। चन्दन-

दास, सिद्धार्थक, क्षपणक, चाण्डाल और नौकर-चाकर प्राकृत का व्यवहार करते हैं, पर सभी प्रधान पात्रों—चाणक्य, चन्द्रगुप्त, राक्षस, भागुरायण, विराधगुप्त आदि की भाषा संस्कृत है और तो और पहाड़ी राजा मलयकेतु भी संस्कृत बोलते हैं।

उत्तर-काल के कुछ नाटक, जो संस्कृत के माने जाते हैं, हमारी समझ में प्राकृत के ही माने जाने चाहिएँ। इनमें विशेषतया महादेव-कृत 'अद्‌भुत-दर्पण' और शूद्रक-कृत 'मृच्छकटिक' के सम्बन्ध में संस्कृत-साहित्य के इतिहासकारों को अपना मत पुनः निश्चित करना होगा। 'मृच्छकटिक' प्राकृत का एक-मात्र सामाजिक नाटक है। इसमें भाषा का वैभव और वैचित्र्य दर्शनीय है। बहुत-से नाटककारों ने राजा को अपना नायक बनाया और राज-दरबारों में संस्कृत का जोर होने के कारण उन्होंने राजा और उनके साथियों, मन्त्रियों, राजदूतों आदि से संस्कृत का व्यवहार कराया। परन्तु 'मृच्छकटिक' में तो समाज का चित्र अंकित है। इसमें संस्कृत का प्रवेश कम है। प्रकृति की भाषा प्राकृत का व्यवहार बहुत अधिक है। सूत्रधार, नटी, नायिका आदि ११ पात्र शौरसेनी में, विदूषक प्राच्या शौरसेनी में, वीरक आवन्ती में, चन्दनक दाक्षिणात्य माहाराष्ट्री में, चाण्डाल-चाण्डाली और जुआरी ढक्की में, शाकार, स्थावरक, कुम्भीलक आदि मागधी में बातचीत करते हैं। यह नाटक प्राकृत-भाषाध्ययन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत के नाटकों में प्राकृत के अनेक भेद पात्रों की स्थिति के अनुसार प्रयुक्त होते रहे हैं और नाट्य-शास्त्र में वर्णित नियमों का भरसक निर्वाह होता रहा है। लेकिन भाषा का जो लोच और विशदता ११वीं शती तक के नाटकों में पाई जाती है, वह बाद में भाषा का रूप बदल जाने के कारण नहीं रह गई। प्रायः नाटककार संस्कृत में लिखकर प्राकृत में अनुवाद करते हैं जिससे भाषा कृत्रिम और बोझिल हो गई है।

सट्टक

सट्टक उपरूपक का एक भेद है जिसकी सम्पूर्ण रचना प्राकृत में होती

है। 'कर्पूरमंजरी' के अनुसार—

सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो णाडिआइ अणुहरइ।
किं उण पवेसविक्खम्भङ्काइं केवलं ण दीसन्ति ॥१.६॥

'सट्टक' उस नाटिका को कहते हैं जिसमें अंक, प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं होते। अंकों को 'जवनिका' कहा जाता है। संधियाँ भी नहीं होतीं। प्रधान रस शृङ्गार होता है। अन्य रस गौण रूप में होते हैं; पर रौद्र रस नहीं होता। वीर, भयानक और वीभत्स का भी प्रयोग कम होता है। अद्भुत रस अवश्य होता है। कौशिकी वृत्ति के भिन्न रूपों का पालन किया जाता है। इसकी कथा कवि-कल्पित होती है। नायक राजा होता है। नायिका रनिवास से सम्बन्ध रखने वाली अथवा राज-वंश की अथवा संगीतशाला की कोई कन्या होती है, जो अत्यन्त गुणवती होती है। स्त्री-पात्र अधिक होते हैं; जिनमें देवी, महारानी और दूती भी रहती हैं। नायक नायिका से देवी की सहायता अथवा अनुमति से विवाह करता है। नायक धीरोदात्त और नायिका मुग्धा, दिव्या और मनोहरा होती है। सट्टक में नृत्य आवश्यक है। द्रविड़ भाषा में आट्ट, अट्ट का अर्थ है नृत्य, अभिनय। सट्टक सम्भवतः स+अट्ट+क से बना है। यह संस्कृतज शब्द नहीं है। २०० ई० पूर्व के शिला-लेखों में 'शाडिक' नाम के एक लोक-नृत्य का उल्लेख मिलता है। विद्वानों का मत है कि सट्टक बहुत पुराना नाट्य-भेद है। हो सकता है संस्कृत में नाटिका का विकास इसीसे हुआ हो। प्राकृत में इस समय ५-६ सट्टक प्राप्त हैं।

प्राकृत के सभी उपलब्ध 'सट्टक' नायिकाओं के नाम पर हैं।

कर्पूरमंजरी—प्राकृत के सट्टकों में यह सर्वोत्तम माना गया है। इसमें प्रायः शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पद्य-भाग का झुकाव माहाराष्ट्री की ओर है। अंशों में संस्कृत का व्यवहार भी मिलता है। इसके चार जवनिकान्तरों में कुन्तलकुमारी, कर्पूरमंजरी और राजा चन्द्रपाल की प्रणय-कथा का वर्णन है। चन्द्रपाल की रानी विभ्रमलेखा की ईर्ष्या के ारण नायक-नायिका के प्रेम में अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं। वे

दोनों गुप्त रूप से मिलते रहते हैं। इसमें बाधाओं की सृष्टि में तथा नायक-नायिका के सम्मिलन का बहाना बनाने में नाटककार ने अपनी कल्पना की मौलिकता दिखलाई है। जब रानी नायिका को राज-प्रासाद में बन्द कर देती है और राजा से मिलने नहीं देती, तो प्रेमी-प्रेमिका सुरंग के रास्ते मिलने लगते हैं और चाँदनी रातों में उद्यान में निकलकर विहार करते हैं। जब रानी को इसका पता लगता है तो वह सुरंग ही बंद करा देती है और वहाँ पहरेदार बिठा देती है। इस अवसर पर भैरवानन्द तान्त्रिक की सहायता से नया रास्ता निकाला जाता है। अन्त में वटसावित्री-महोत्सव पर रानी अपने पति की मंगल-कामना से प्रेरित होकर विवाह की अनुमति दे देती है; क्योंकि इस विवाह से राज्य-विस्तार की आशा की जाती है।

नाटिका में वसन्त, सन्ध्या, चन्द्रोदय, ऋतु-सौन्दर्य, रूप-सज्जा, नख-शिख आदि का वर्णन कवित्वपूर्ण है। इसके प्रेम-गीत बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। विरह-वर्णन में नाटककार ने विशेषतः अपनी सच्ची काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। इस सट्टक-रत्न का गीति-सौन्दर्य, अनुप्रास-माधुर्य और पद-लालित्य दर्शनीय है। कहीं-कहीं हास्य का चित्रण भी अनूठे ढंग का है। नाटिका से तत्कालीन प्रचलित साहित्यिक रीतियों, नाटक के रूपों, संगीत में ध्रुवगीतों और नृत्य, चर्चरी आदि के प्रयोगों और भाषा-शैलियों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। कृति की विशेषता छन्दों की विविधता में है। इसके १४४ पद्यों में १७ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इनमें आर्या, शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, त्रिष्टुप्, श्लोक और स्रग्धरा प्रमुख हैं। इनके कारण कृति अधिकांश गीति-नाट्य-सी लगती है। गद्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का अच्छा प्रयोग हुआ है।

'कर्पूरमंजरी' के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध कवि राजशेखर हैं। वे यायावर ब्राह्मण थे और कन्नौज-नरेश महेन्द्रपाल के उपाध्याय और राज-कवि थे। इनके पिता किसी राज्य में महामात्र (मुख्य मंत्री) थे। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी बड़ी विदुषी और कवयित्री थीं। इन्हींके मनो-

रंजनार्थ राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' लिखी। राजशेखर काव्य-शास्त्र के विख्यात आचार्य थे। 'काव्य-मीमांसा' इनकी मान्य कृति है। इनका समय सन् ८६४ से ६२५ ई० निर्धारित किया गया है।

रम्भामंजरी—नाटककार का कहना है कि 'रम्भामंजरी' 'कर्पूरमंजरी' से अधिक सुन्दर है। पर बात ऐसी नहीं है। कथा में कुछ मौलिकता तो है, पर वह उतनी रोचक नहीं है। इसके पद्य भी अपेक्षाकृत अच्छे नहीं हैं। सट्टक का कथांश इस प्रकार है। बनारस के राजा जैत्रचन्द्र की सात रानियाँ हैं। उसका प्रेम लाट-नरेश देवराज की पुत्री रम्भा से है। नायक-नायिका के मिलने-बिछुड़ने का वर्णन सुन्दर है। रम्भा भगा लाई जाती है और ......।' इसके आगे कथा का अन्त कैसे हुआ, यह नहीं जाना जा सकता। ऐसा लगता है कि कृति अपूर्ण है। इसके तीन जवनिकान्तर हैं। पहले में विवाह, दूसरे में विरह और मिलन तथा तीसरे में प्रेमाचार का वर्णन है। चौथा जवनिकान्तर अवश्य रहा होगा, जिसमें नाटक का फल वर्णित था।

प्राकृत के अतिरिक्त कहीं-कहीं संस्कृत का प्रयोग भी हुआ है। कुछ संस्कृत बोलने वाले पात्र भी प्राकृत के पद्य बोलते हैं।

'रम्भामंजरी' के रचयिता नयचन्द्र अपने को श्रीहर्ष और अमरचन्द्र के समान मानते हैं। इन्होंने 'हम्मीर महाकाव्य' की रचना भी की है। ये जैन साधु थे, पर 'सट्टक' के मंगलाचरण में इन्होंने विष्णु की पूजा की है। इनका समय १४ वीं शती के अन्त में बताया जाता है।

चंदलेहा—'चन्द्रलेखा' का कथानक अत्यन्त सुन्दर है। चिन्तामणि देवता की कृपा से संसार की सुन्दरतम युवती, अंगराज चन्द्रवर्मा की कन्या, चन्द्रलेखा मानवेद राजा के पास आई। देखते ही राजा उस पर मोहित हो गया। अग्रमहिषी के भय से आशंकित राजा उसे चोरी-चोरी मिलने लगा। देवी अग्रमहिषी को जब इस प्रेम-रहस्य का पता लगा तो उसने चन्द्रलेखा पर पहरा बैठा दिया। देवी को यह ज्ञात नहीं था कि चन्द्रलेखा उसकी मौसी की लड़की है। चन्द्रलेखा का भाई चन्द्रकेतु उसकी खोज

करता हुआ यहाँ आ पहुँचा। देवी ने उसकी चिन्ता का कारण जानकर राजा से विनय की कि इसकी बहन की तलाश करायें। चिन्तामणि-देवता की सहायता से चन्द्रलेखा कैद से छुड़ाई जाकर सबके सामने उपस्थित की जाती है और देवता ही के कहने पर देवी उसका विवाह अपने पति से करा देने को तैयार हो जाती है।

'चन्द्रलेखा' की शैली 'कर्पूरमंजरी' से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। भाषा में बड़ा ओज है। कहीं-कहीं शब्दालंकारों के बाहुल्य के कारण और कथोपकथनों में लम्बे-लम्बे समासों के कारण इसमें कृत्रिमता आ गई है। पद्य अधिक सुन्दर हैं। उनमें प्राकृतिक दृश्यों का बहुत अच्छा वर्णन हुआ है। छन्दों का चुनाव भी प्रशंसनीय है। गीति, पृथ्वी, वसंततिलका, स्रग्धरा आदि १५ छन्दों का प्रयोग किया गया है। 'चन्द्रलेखा' के रचयिता रुद्रदास कालिकट के रहने वाले थे। इनके पिता ब्राह्मण और माता शूद्रा थी। इनका समय १६६० ई० के आस-पास निर्धारित किया गया है।

शृङ्गार-मंजरी—इस नाटिका की कथा सबसे सुन्दर है। राजा राजशेखर स्वप्न में एक सुन्दरी को देखने के बाद विरह से व्याकुल होता है। देवी रूपलेखा की दासी वसन्ततिलका उसे चित्र बनाने को कहती है। चित्र को वह पहचान लेती है और राजा को बताती है कि यह सुन्दरी मेरी सखी है और वह भी आपके लिए विह्वल है। देवी राजा को मदन-पूजा पर बुलाती है। इधर उद्यान में वसन्त-तिलका और शृंगारमंजरी झगड़ पड़ती हैं। देवी राजा को इनका झगड़ा निपटाने के लिए कहती हैं। इस अवसर पर राजा अपनी नायिका को देख लेता है। इसके बाद रात को वसन्ततिलका आकर सूचित करती है कि शृंगारमंजरी विरह-व्यथा से तंग आकर आत्म-हत्या करने जा रही है। राजा उसे बचाने के लिए निकल पड़ता है। वे दोनों कुञ्ज में मिलते हैं और प्रेमालाप करते हैं। सौतिया डाह से आशंकित देवी विदूषक, वसन्ततिलका और शृङ्गारमंजरी को कैद कर देती है। पार्वती-मन्दिर में पूजा करते हुए देवी को वाणी सुनाई देती है कि तुम राजा के प्रति कर्तव्य का पालन करो। यह संकेत

पाकर देवी सबको रिहा कर देती है। शृङ्गारमंजरी का विवाह राजा से हो जाता है। अंत में यह भेद भी खुलता है कि शृङ्गारमंजरी अवंतिराज जटाकेतु की पुत्री है।

कथा में ही नहीं, नाटिका की शैली में भी कवि की मौलिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं। पद्य कवित्वपूर्ण हैं। भाषा-शैली प्रसादगुणयुक्त है। वसन्त, सन्ध्या, कुञ्ज, रात्रि आदि के वर्णन अच्छे हैं।

इसके रचयिता विश्वेश्वर अलमोड़ा के रहने वाले थे। वे १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में हो गए हैं। दस वर्ष की अवस्था से उन्होंने लिखना प्रारम्भ किया था। कुल अवस्था ४० वर्ष की पाई, पर इस बीच में २० से अधिक ग्रन्थों की रचना की।

आनन्दसुन्दरी—इसकी नायिका अंगराज की कन्या है, जो राजा शिखंडचन्द्र के गुण सुनकर प्रेम-विह्वल हो जाती है और अपने पिता की आज्ञा से नायक से मिलने चल पड़ती है। एक गर्भांक में बताया गया है कि रानी की ईर्ष्या से बचने के लिए आनन्दसुन्दरी पुरुष वेश में आती है। उसे देखकर रानी को सन्देह होता है और उसे क़ैद में डाल देती है। राजा रानी को प्रसन्न करके उसकी अनुमति प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि राजा के कोई सन्तान नहीं है। विवाह के बाद वे शृङ्गार-वन में चले जाते हैं। एक दूसरे गर्भांक में मन्त्री की विजय दिखाई गई है। राजा प्रसन्न होकर उसे पुरस्कार में अपना राज्य देने लगते हैं कि समाचार मिलता है कि राज-पुत्र का जन्म हुआ है। राजा बच्चे को गोदी में उठा लाते हैं। भाट गाते हैं और इससे सट्टक की समाप्ति होती है।

अन्य नाटिकाओं की अपेक्षा 'आनन्दसुन्दरी' के कथानक में 'कर्पूर-मंजरी' की छाया कम है। इसमें मौलिकता अधिक है। कई स्थलों पर हास्य का पुट दिया गया है। भाषा कृत्रिम है। बात यह है कि प्राकृत से सम्पर्क छूट गया था। अब तो प्राकृत भाषा व्याकरणों में ही सीमित रह गई। जो लेखक प्राकृत में लिखना चाहते थे वे पहले संस्कृत में रचना करते थे और बाद में नियमानुसार उसे प्राकृत में ढाल लेते थे। 'शृङ्गार-

सुन्दरी' की भाषा इससे बहुत अच्छी है।

'आनन्दसुन्दरी' के रचयिता घनश्याम अपने को 'माहाराष्ट्रचूडामणि' कहते हैं। उनका जन्म सन् १७०० ई० में और मृत्यु १७५० ई० में हुई। नाटिका की एक सूचना के अनुसार उन्होंने ६४ संस्कृत के, २० प्राकृत के और २० भाषा के ग्रन्थ लिखे। इनमें तीन सट्टक थे—'बैकुण्ठ-चरित', 'आनन्दसुन्दरी' और एक और। पर अभी तक केवल एक उपलब्ध है। 'आनन्दसुन्दरी' की रचना के समय वे तंजौर के मन्त्री थे।

अन्य

विलासवती—'प्राकृत-सर्वस्व' व्याकरण के रचयिता मार्कण्डेय की यह कृति उपलब्ध नहीं है। इसका केवल उल्लेख मिलता है। विश्वनाथ ने भी 'साहित्य-दर्पण' में विलासवती नाम के 'नाट्य रासक' का उल्लेख किया है।

लीलावती—मालाबार के प्रसिद्ध प्रबन्ध-कवि राम पाणिवाद की यह वीथी है। वीथी में एक ही अंक होता है। एक, दो या अधिक-से-अधिक तीन पात्र होते हैं। शृंगार रस की प्रधानता होती है। 'लीलावती' से सूचित होता है कि इसका अभिनय राजा देवनारायण के सामने किया गया था। कथानक में मौलिकता के दर्शन होते हैं। लीलावती कर्णाटक की राजकुमारी है। किसी शत्रु द्वारा अपहृत हो जाने के डर से पिता ने उसको कुन्तल की रानी कलावती के पास छोड़ दिया; जहाँ राजा वीरपाल और लीलावती में प्रेम हो गया। रानी ईर्ष्या से जल-भुन गई। विदूषक रानी कलावती को साँप से डसवा देता और स्वयं उसे बचा लेता है। कलावती को आकाशवाणी सुनाई देती है कि तुम राजा का विवाह लीलावती से कर दो। वह मान जाती है। पर इसी समय एक और विघ्न आ उपस्थित होता है। कलिंगराज का एक मित्र लीलावती को भगा ले जाने की चेष्टा करता है। वीरपाल उसे मार डालता है। अन्त में वीरपाल और लीलावती का विवाह हो जाता है। वीथी की भाषा कृत्रिम है।

माहाराष्ट्री

'शकुन्तला' से

[शकुन्तला की विदाई के कारण—]

उल्ललिअ-दब्भकवला मई परिच्चत्तणच्चणा मोरा ।
ओसरिअ-पंडु-वत्ता मुअन्ति अंसूइं व लआओ ॥

'मृच्छकटिक' से

विचलइ णेउर-जुअलं, छिज्जन्ति अ मेहला मणि-क्खइआ ।
वलआ अ सुन्दरअरा रअणंकुर-जाल-पडिबद्धा ॥ १९ ॥

'रत्नावली' से

[मदनिका गाती है]

कुसुमाउह-पिय दूअओ मउलाइअ-बहु-चूअओ ।
सिढिलिअ-माण-ग्गहणओ वाअइ दाहिण-पवणओ ॥
विरह-विवड्ढिअ-सोअओ कंखिअ-पिअ-अण-मेलओ ।
पडिवालणासमत्थओ तम्मइ जुवई-सत्थओ ॥
इह पढमं महुमासो जणस्स हिअआइं कुणाइ मउआइ ।
पच्छा विज्झइ कामो लद्ध-प्पसरेहिं कुसुम-बाणेहिं ॥

अनुवाद

उगल दिया दर्भ के कौर को मृगी ने, परित्याग कर दिया नाचने का मोर ने, झड़ते हैं पीले पत्ते जिनसे, वे लताएँ आँसू-सी बहाने लगीं ।

नूपुर-युगल विचलित हो रहा है, मणि-खचित मेखला टूट गई है साथ ही सुन्दरतर बाजूबंद (वलय) जो रत्नांकुर-जाल से प्रतिबद्ध है ।

कुसुमायुध (कामदेव) का प्रिय दूत, आमों को मुकुलायित करने वाला (स्त्रियों के) मान-ग्रहण को शिथिल करने वाला दक्षिण पवन बह रहा है ।

विरह-विवर्द्धित शोकयुक्त प्रियजन के मिलने को उत्कंठित तथा अपने प्रतिपालन में असमर्थ युवति-दल कुम्हला रहा है ।

यहाँ पहले मधुमास लोगों के हृदयों को मृदुल बनाता है, पीछे कामदेव प्रसर लाभ करके (अर्थात् बे-रोक-टोक) कुसुम-बाणों से उन्हें बींधता है ।

शौरसेनी

मृच्छकटिक अङ्क ६

(वसन्त सेना और एक चेटी)

चेटी—कधं अज्ज वि अज्जआ ण विवुज्झदि । भोदु । पविसअ पडिबोधइस्सं । [इति नाट्येन परिक्रामति]

[ततः प्रविशति आच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना]

चेटी—उत्थेदु उत्थेदु अज्जआ ! पभादं संवुत्तं ।

वसं०—[प्रतिबुध्य] कधं रत्ति ज्जेव पभादं संवुत्तं ?

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो । अज्जआए उण रत्तिज्जेव ।

वसं०—हञ्जे, कहिं उण तुम्हाणं जूदिअरो ?

चेटी—अज्जए, वड्ढमाणअं समादिसिअ पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्ज चारुदत्तो ।

वसं०—किं समादिसिअ ?

चेटी—जोएहि रत्तीए पवहणं, वसन्तसेणा गच्छदु त्ति ।

वसं०—हञ्जे ! कहिं मए गन्तव्वं ?

चेटी—अज्जए, जहिं चारुदत्तो ।

वसं०—[चेटीं परिष्वज्य] सुट्ठु ण णिज्झाइदो रत्तीए । ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं । हञ्जे, किं पविट्ठा अहं इह अब्भन्तर-चदुस्सालअं ?

चेटी—ण केवलं अब्भन्तर-चदुस्सालअं । सव्वजणस्स वि हिअअं पविट्ठा ।

वसं०—अवि सन्तप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो ।

चेटी—संतप्पिस्सदि ।

वसं०—कदा ?

चेटी—जदो अज्जआ गमिस्सदि ।

अनुवाद

चेटी—क्या अब भी बाई जी नहीं उठीं। अस्तु, प्रवेश करके जगाऊँ। [घूमने का अभिनय करती है]

[तब शरीर ढाँके सोई हुई वसन्तसेना का प्रवेश]

चेटी—उठिये, उठिए बाई जी ! प्रभात हो गया।

वसं०—[जागकर] क्या रात को ही प्रभात हो गया ?

चेटी—हमारा तो यह प्रभात है, बाई जी की चाहे रात ही हो।

वसं०—अच्छा, कहाँ गये तुम्हारे जुआरिये ?

चेटी—बाई जी, वर्द्धमानक को कहकर आर्य चारुदत्त पुष्प-करंड जीर्णोद्यान में चले गए।

वसं०—क्या कहकर ?

चेटी—कि वाहन रात में ही जुतवा लेना ताकि वसन्तसेना जा सके।

वसं०—अरी ! कहाँ जाना है मुझे।

चेटी—बाई जी, जहाँ चारुदत्त जी हैं।

वसं०—[चेटी को गले लगाकर] अच्छी तरह देख नहीं पाई रात को। तो आज प्रत्यक्ष देखूँगी। अरी ! क्या मैं चतुश्शाला के भीतर प्रविष्ट कराई गई हूँ ?

चेटी—न केवल चतुश्शाला के भीतर अपितु सब लोगों के हृदय में भी।

वसं०—क्या किसी को मेरा चारुदत्त के यहाँ रहना खलता है ?

चेटी—खलेगा।

वसं०—कब ?

चेटी—जब आप चली जायँगी।

वसं०—तदो मए पढमं संतप्पिदव्वं। (सानुनयम्) हञ्जे, गेण्ह एदं रअणावलिं। मम बहिणिआए अज्जा-धूदाए गडुअ समप्पेहि! भणिदव्वं च 'अहं सिरिचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी, तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव कण्ठाहरणं होदु रअणावली'।

चेटी—अज्जए, कुप्पिस्सदि चारुदत्तो अज्जाए दाव।

वसं०—गच्छ। ण कुप्पिस्सदि।

चेटी—[मालां गृहीत्वा] जं आणवेदि। [इति निष्क्रम्य पुनः प्रविशति] अज्जए, भणादि अज्जा धूदा—"अज्जउत्तेण तुम्हाणं पसादीकिदा। ण जुत्तं मम एदं गेण्हिदुं। अज्जउत्तो ज्जेव मम आहरण-विसेसो त्ति जाणादु भोदी।"

[ततः प्रविशति दारकं गृहीत्वा रदनिका]

रद०—एहि वच्छ,—सअडिआए कीलाम्ह।

दारकः—[सकरुणम्] रदणिए! किं मम एदाए मट्टिआए सअडिआए? तं ज्जेव सोवण्ण—सअडिअं देहि।

रद०—[सनिर्वेदं निःश्वस्य] जाद, कुदो अम्हाणं सुवण्ण-ववहारो। तादस्स पुणो वि रिद्धीए सुवण्ण-सअडिआए कीलिस्ससि। ता जाव विनोदेमि णं। अज्जआ—वसन्तसेणाए समीवं उवसप्पिस्सं। [उपसृत्य] अज्जए पणमामि।

वसं०—रदणिए, साअदं दे। कस्स उण अअं दारओ? अणलंकिदसरीरो वि चन्दमुहो आणन्देदि मम हिअअं।

रद०—एसो क्खु अज्ज चारुदत्तस्स पुत्तो रोहसेणो णाम।

वसं०—[बाहू प्रसार्य] एहि मे पुत्तअ आलिङ्ग। [इति अंके उपवेश्य] अणुकिदं अणेण पिदुणो रूवं।

वसं०—तब तो पहले मुझीको खलेगा। [अनुनय के साथ] अरी, ले यह रत्नमाला। मेरी बहन बाई धूता के पास जाकर दे आ ! उसे कहना कि मैं श्री चारुदत्त के गुणों से निर्जित दासी हूँ, वैसी ही तुम्हारी भी, तो यह रत्नमाला तुम्हारे ही गले का आभूषण बने।

चेटी—बाई जी, तब तो चारुदत्त जी उन पर गुस्से होंगे।

वसं०—जा, नहीं होंगे।

चेटी—[माला लेकर] जैसी आपकी आज्ञा। [बाहर जाकर फिर आती है] बाई जी, बाई धूता कहती हैं कि आर्यपुत्र ने तुम्हें यह प्रसाद में दी है। मेरा इसे ले लेना उचित नहीं है। आर्यपुत्र ही मेरे आभूषण विशेष हैं, यह तो आप जानती हैं।

[बच्चे को लेकर रदनिका का प्रवेश]

रद०—आओ बेटा, शकटिका (गाड़ी) से खेलें।

बालक—[करुण स्वर में] रदनिके ! मेरा इस मिट्टी की गाड़ी से क्या काम ? वही सोने की गाड़ी दो।

रद०—[ठंडी आह भरकर] भैया ! कहाँ हमारा सोने से काम ? पिता जी की फिर उन्नति होगी तो सोने की गाड़ी से खेलना।···इतने में इसका जी बहलाऊँ। बाई वसन्तसेना के पास जाऊँ। [निकट जाकर] बाई जी, प्रणाम करती हूँ।

वसं०—रदनिके, स्वागत ! यह बालक किसका है ? अनलंकृतशरीर भी यह चाँद से मुखड़े वाला मेरे हृदय को आनन्द देता है।

रद०—यह आर्य चारुदत्त का पुत्र रोहसेन ही तो है।

वसं०—[बाहें फैलाकर] आओ बेटा ! मुझे भेंटो। [गोद में बिठाकर] यह अपने पिता के रूप पर जाता है।

रद०--ण केवलं रूवं, सीलं पि तिक्के मि। एदिणा अज्ज चारुदत्तो अत्ताणअं विणोदेदि।

वसं०—अध किं णिमित्तं एसो रोअदि।

रद०—एदिणा पडिवेसिअ-गहवइ-दारअ-केरिआए सुवण्ण-सअडिआए कीलिदं। तेण अ सा णीदा। तदो उण तं मग्गन्तस्स मए इअं मट्टिआसअडिआ कदुअ दिण्णा। तदो भणादि "रदणिए, किं मम एदाए मट्टिया सअडिआए। तं ज्जेव सोवण्णसअडिअं देहि" त्ति।

वसं०—हद्धी हद्धी! अअं पि णाम पर-सम्पत्तीए सन्तप्पदि। भअवं कअन्त पोक्खर-वत्त-पडिद-जल-बिन्दु-सरिसेहिं कीलसि तुमं पुरिस-भाअधेएहिं। [इति साम्रा] जाद! मा रोद। सोवण्ण सअडिआए कीलिस्ससि।

दारक—रदणिए, का एसा?

वसं०—पिदुणो दे गुणणिज्जिदा दासी।

रद०—जाद, अज्जआ दे जणणी भोदि।

दारक—रदणिए, अलिअं तुमं भणासि। जइ अम्हाणं अज्जआ जणणी, ता कीस अलंकिदा?

वसं०—जाद, मुद्धेण मुहेण अदिकरुणं मन्तेसि। [नाट्येनाभरणानि अवतार्य्य रुदती] एसा दाणीं दे जणणी संवुत्ता। ता गेण्ह एदं अलंकारअं। सोवण्ण-सअडिअं घडावेहि।

दारक०—अवेहि। ण गेण्हिस्सं। रोदसि तुमं।

वसं—[अश्रूणि प्रमृज्य] जाद, ण रोदिस्सं। गच्छ कील। [अलङ्कारैर्मृच्छकटिकं पूरयित्वा] जाद! कारेहि सोवण्णसअडिअं [इति दारकमादाय रदनिका निष्क्रान्ता]।

रद०—न केवल रूप में, मेरे विचार में शील में भी उन्हींका-सा है। आर्य चारुदत्त इसीसे अपना जी बहलाते हैं।

वसं०—तो यह किस निमित्त से रोता है?

रद०—यह पड़ोस में गृहपति के लड़के के साथ सोने की गाड़ी से खेल रहा था। वह अपनी गाड़ी ले गया। तो फिर यह माँगने लगा, तब मैंने यह मिट्टी की गाड़ी इसे बना दी। अब कहता है कि रदनिके, मैं इस मिट्टी की गाड़ी को क्या करूँ। मुझे तो सोने की गाड़ी दे।

वसं०—हा! धिक्! इसे भी दूसरों की सम्पत्ति सताती है। हे भगवान्, कमल के पत्ते पर पड़े जलबिन्दु के समान हमारे भाग्यों से तुम क्रीड़ा करते हो! [आँसू भरकर] बेटा, मत रो। तू सोने की गाड़ी से ही खेलेगा।

बालक—रदनिके, यह कौन हैं?

वसन्त—तेरे पिता के गुणों से निर्जित दासी।

रद०—भैया, बाई जी, तेरी माँ लगती हैं।

बालक—रदनिके, तुम झूठ कहती हो। यदि ये हमारी माँ होतीं तो अलंकार कहाँ से पातीं?

वसं०—बेटा, अपने मुग्ध मुख से तू अत्यन्त करुण बात कहता है। [अभिनय से गहने उतारकर रोती हुई] ले अब तो मैं तेरी माँ बन गई ना। ले ले ये अलंकार। सोने की गाड़ी गढ़ा लेना।

बालक—जाओ, मैं नहीं लेता, (क्योंकि) तुम रोती हो।

वसं०—[आँसू पोंछकर]—बेटा, नहीं रोऊँगी। जा खेल! [अलंकारों से मिट्टी की गाड़ी भरकर] बेटा, सोने की गाड़ी बनवा ले।

[बालक को लेकर रदनिका निकल जाती है।]

शौरसेनी

शकुन्तला, अङ्क २

[विदूषक मृगयाशील राजा के वयस्यभाव के कारण होने वाले अपने दुःखों का वर्णन कर रहा है।]

ही माणहे, हदो म्हि, एदस्स मिअआ-सीलस्स रण्णो वअस्स-भावेण निव्विण्णो। 'अअं मओ, अअं वराहो' त्ति मज्झन्दिणे वि गिम्हे विरल-पादव-च्छाआसु वण-राईसु आहिण्डिअ, पत्त-संकर कसाअ-विरसाइं उण्ह-कडुआइं पिज्जन्ति गिरिणई-सलिलाई। अणिअद-वेलं च उण्हुण्हं मंसं भुञ्जीअदि। तुरअ-गआणं च सद्देण रत्ति पि णत्थि पकाम-सुइदव्वं।

महन्ते ज्जेव पच्चूसे (प्रत्यूषे) दासीए पुत्तेहिं साउणिअ-लुद्धेहिं किण्णोवघादिणा वणगमण-कोलाहलेण पबोधीआमि। एत्तिकेणावि दाव पीडा ण वुत्ता जदो गण्डस्स उवरि विप्फोडओ संवुत्तो। जेण किल अम्हेसुं अवहीणेसुं तत्थभवदा मआणु सारिणा अस्समपदं पविट्ठेण मम अधण्णदाए सउन्तला णाम कावि तावसकण्णा दिट्ठा। तं पेक्खिअ सम्पदं णअर-गमणस्स कन्धं पि णं करेदि। एदं ज्जेव चिन्तअन्तस्स मम पहादा (प्रभात) अच्छीसुं रअणी। ता का गदी? जाव णं किदा-आरपरिकम्मं पिअवअस्स पेक्खामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] एसो बाणासण-हत्थो हिअ-णिहिद पिअ-अणो वण-पुप्फ- मालाधारी इदो ज्जेव आअच्छदि पिअ-वअस्सो। भोदु अङ्ग-सङ्ग-विअलो भविअ चिट्ठिस्सं, एवं पि णाम विस्सामं लहेअं। [दण्डकाष्ठमवलम्ब्य स्थितः]।

अनुवाद

हाह हाय ! मारा गया ! इस मृगयाशील राजा के वयस्य-भाव से मैं तंग आ गया। 'यह मृग है, यह सुअर है' इस प्रकार मध्याह्न में भी ग्रीष्म में विरल पड़ गई छाया जिनकी ऐसे पेड़ों वाले वन-मार्गों में भटक-कर, पत्तों के मेल से कसैले, उष्ण, विरस और कड़ुआ गिरि नदियों का जल पीना पड़ता है। अनियत समय जला-भुना मांस खाना पड़ता है। घोड़े-हाथियों के शब्द से रात को भी जी-भरकर सोना नहीं मिलता।

बहुत सवेरे-सवेरे दासी-पुत्र शाकुनिक बहेलिए मुझे वन-गमन के कर्णभेदी कोलाहल से जगा देते हैं। इतना होते हुए भी मेरा क्लेश समाप्त नहीं होता; क्योंकि फोड़े के ऊपर एक फुड़िया निकल आई है, क्योंकि (कल) हमें पीछे छोड़ जाने के बाद महाराज मृग का पीछा करते-करते एक आश्रम में प्रविष्ट हुए और मेरी अधन्यता से उन्होंने शकुन्तला नाम की कोई तापस-कन्या देख ली। उसे देखकर अब वे नगर जाने की बात तक नहीं करते। यही सोचते-सोचते मेरी आँखों में ही रात कट गई। तो क्या गति ? तो अब आचार और नित्यकर्म से निवृत्त अपने प्रिय मित्र के दर्शन करूँ। [घूमकर और देखकर] ये हाथ में धनुष लिये, हृदय में प्रियजन को निहित किये, वनपुष्पों की माला धारण किये प्यारे सखा इधर ही आ रहे हैं। अस्तु, अङ्गमर्दन होने की विकलता की मुद्रा में खड़ा होता हूँ। इस प्रकार शायद विश्राम पा सकूँ। [लाठी का सहारा लेकर खड़ा हो जाता है]।

कर्पूर मंजरी

किसलअकरचलणा वि हु कुवलअणअणा मिअङ्कवअणा वि।
अहह णवचम्पअङ्गी तह वि हु तावेइ अच्छरिअं ॥२.४२॥

लोआणं लोअणेहिं सह कमलवणं अद्धणिद्दं कुणन्तो
मुञ्चन्तो तिव्वभावं सह अ सरहसं माणिणीमाणसेहिं।
मञ्जिट्ठारत्तसुत्तच्छविकिरणचओ चक्कवाएक्कमित्तो
जाओ अत्थाचलत्थो उवह दिणमणी पिक्कणारिङ्गपिङ्गो ॥ २.२०॥

चन्द्रलेखा

भमंत - भमर-च्छडा-कल-विराविआ वाविआ
फुरंत-मअणच्चणा-विहव णंदिरं मंदिरं।
लसंत-णव-णट्टई-ललिअ-णट्टणं पट्टणं
वलंत-मलआणिलाअम-सिलाहिणो साहिणो ॥ १.१७॥

अच्छेरं अमुअस्स अच्छ-मणिणो दीहेहि मोहेहिणं
तेल्लोकं णव-पोमराअ-रअणुक्किरणं व लक्खिज्जए।
एसो वासर-दीव-धूसर-छई सूरो वि दूरोसिओ
संझाए कवली-किदो व्व सहसा णट्ठो अअं आदवो ॥१.२८॥

चन्दादो किरणंकुरा पअलिआ चंडं चओर-च्छडा-
चंचू-संचअ-वेअ-खंडिअ-मुहा मुंडत्तणं पाविआ।
दीसंते धवलाअमाण-कुमुअ-च्छाआहि संवड्ढिआ
एण्हिं उल्लसिअद्द-पल्लव-सहस्सुव्वेल्लिअग्गा इव ॥३.२०॥
आआसे पंचसाइं परिणमिअ-पलंडु-च्छडा-पंडुराइं
ताराइं चंचलीआ कुमुअ-महु-सुहा-पाण-मत्ता पसुत्ता।
जाओ णीसास-कण्हाविअ-मुउर-समो मंदिमो चंदिआए
पुव्वासा-सोअ-साहा लहइ कुसुमिआ पाअ-संगं उसाए ॥४.६॥

अनुवाद

चाहे तेरे हाथ-पैर किसलय के समान हैं, तेरे नयन नीलकमल के समान, तेरा मुखड़ा चन्द्रमा के समान और अंग नवचम्पक के समान (शीतल) हैं, तो भी आश्चर्य है कि वे मुझे ताप क्यों देते हैं।

लोगों के लोचनों को और साथ ही कमलवन को अर्द्ध-निद्रालु करता हुआ, अपनी गरमी को और साथ ही तुरन्त मानिनी स्त्रियों के हृदयों को ढीला करता हुआ, मजीठ से रंगे सूत की छवि वाली किरणों का समूह समेटे हुए, चक्रवाक का एक-मात्र मित्र, पक्की नारंगी की तरह पिंग (भूरे) रंग वाला (सन्ध्या का) सूर्य (दिनमणि) अस्ताचल पर ठहरा हुआ है।

(वसंत में) मँडराते हुए भौंरों की छटा और कल-कल से शब्दायमान हैं बावलियाँ; (सब में) स्फुरण करते हुए मदन की अर्चना के वैभव से सुन्दर लगता है मन्दिर; सुशोभित है नवनर्तकियों के ललित नृत्य से नगर; झूम रहे हैं मलयानिल के आगमन की श्लाघा में पेड़।

(संध्या) आश्चर्यपूर्ण हो गई है इस स्वच्छ मणि (अर्थात् सूर्य) की दीर्घ किरणों से; त्रैलोक्य नये पद्मराग रत्नों से जड़ा हुआ दिखाई देता है; यह सूर्य दिन में धूसरित छवि वाले दीप के समान दूर हट गया है; संध्या से कवलीकृत होकर सहसा नष्ट हो गई है धूप।

चन्द्रमा से किरणों के अंकुर निकले तो प्रखर, पर चकोरों की चंचुओं द्वारा संचित किये जाने के वेग से खण्डित हो गए मुख उनके, और वे खर्व हो गईं। (पुनः) सफेद कुमुदों की छाया में बढ़कर दिखाई देती है ऐसी कि अब गीले पत्तों में हज़ार-हज़ार तीखे अग्र लेकर उठी हों।

(प्रभात वेला में) आकाश में पाँच-पाँच करके अपनी छटा को प्याज की तरह पांडुर बनाये जा रहे हैं तारे। भँवरे कुसुम का मधु अमृत पीने से मत्त होकर सोये हैं। निःश्वास के कारण काले पड़ गए मुकुर की तरह हो गई है चन्द्रमा की मंदिमा। पूर्व दिशा रूपी अशोक-शाखा कुसुमित हो उठी है उषा के पैर धरने के साथ ही।

: ६ :

विविध साहित्य

विज्ञान

इतिहास बताता है कि प्राकृत-काल में तक्षशिला और नालन्दा शिक्षा के बहुत बड़े केन्द्र थे। यह भी ज्ञात है कि इन विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध बौद्ध-भिक्षुओं के हाथ में था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पर शिक्षा का माध्यम जन-भाषा रही होगी। इसकी पुष्टि तत्कालीन वैज्ञानिक साहित्य से होती है। यह साहित्य 'मिश्रित संस्कृत' में है। सैकड़ों पारिभाषिक शब्द इसमें संस्कृत के नहीं हैं, प्राकृत के हैं। आयुर्वेद और ज्योतिष विज्ञान की दो ऐसी शाखाएँ हैं जिनमें भारत अग्रणी रहा है। जैन-साहित्य में इन पर आश्चर्यजनक व्याख्याएँ मिलती हैं। 'तण्डुल-वैतालिक' प्रकीर्णक में भगवान् महावीर और उनके शिष्य गौतम के संवाद में मानव-शरीर-रचना का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है, गर्भ एवं उसके विकास पर महत्त्वपूर्ण चर्चा है; और हड्डियों तथा शिराओं की व्यवस्था का वर्णन है। आगमों और उपदेशों में ऋतुओं के अनुसार खान-पान, रक्षण, प्रयोग, रक्त-विकार, प्राकृतिक चिकित्सा आदि विषयों पर विद्वत्तापूर्ण विचार मिलते हैं। कीटाणुओं की उत्पत्ति तथा उनके निवारण की विधि पर विशेष और नवीन अनुभव वर्णित हैं। कई रोगों और औषधियों का वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है। ज्योतिष-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त आगमों में आये हैं। पाँचवें, छठे और सातवें उपांग में नक्षत्र-विद्या,

भूगोल, किरण-विज्ञान और काल-विभाजन के सम्बन्ध में सूक्ष्म वैज्ञानिक खोजें उपस्थित की गई हैं। 'संग्रहणी', 'लोकसार' आदि ग्रंथों में गणित-विषयक बड़े आश्चर्यजनक विचार पाये जाते हैं। इस विषय पर यति वृषभाचार्य (५ वीं शती) की 'तिलोय-पण्णत्ति' (त्रिलोक प्रज्ञप्ति) उल्लेखनीय कृति है। इसमें ८००० प्राकृत गाथाएँ हैं, जिनमें बड़ी सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण चिन्तनाएँ संगृहीत हैं। 'करलक्खण' नाम का एक प्राकृत ग्रन्थ सामुद्रिक शास्त्र पर है।

भाषा-शास्त्र

प्राकृत में अनेक ग्रन्थ हैं; जिनमें भाषाओं का ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वर्णनात्मक वृत्तान्त दिया गया है। ऐतिहासिक विवरणों में प्राकृत का विकास लौकिक संस्कृत से माना गया है, यद्यपि इसका सम्बन्ध वैदिक से अधिक घनिष्ठ और स्वाभाविक जान पड़ता है। उदाहरणस्वरूप 'खम्भ' की व्युत्पत्ति सं० 'स्तम्भ' से बताई है जबकि इसे वैदिक 'स्कम्भ' से व्युत्पन्न मानना अधिक वैज्ञानिक होगा। तुलनात्मक वर्णन में प्राकृत के भेदों का परस्पर सम्बन्ध, प्राकृतों की समानताएँ-विषमताएँ और इनके सापेक्ष लक्षण दिये गए हैं, जिनसे प्राकृतों के क्रमिक विकास पर भी प्रकाश पड़ता है। ध्वनि-शास्त्र, व्याकरण और शब्दार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में उन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है जो प्राकृतों पर लागू होते हैं। प्राकृत-भाषा-शास्त्र पर एक दर्जन से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ४थी शती से लेकर १७वीं शती के अन्त तक बराबर लिखे जाते रहे हैं।

सबसे प्राचीन उपलब्ध व्याकरण वररुचि का 'प्राकृत प्रकाश' है। इस पर पाँच-छः टीकाएँ हैं; जिनमें भामह-कृत 'मनोरमा' अधिक प्रसिद्ध है। ग्रन्थ में मुख्य रूप से सामान्य प्राकृत के लक्षण वर्णित किये गए हैं और मागधी, पैशाची तथा शौरसेनी के गौण रूप से। माहाराष्ट्री अथवा अपभ्रंश का उल्लेख नहीं हुआ। इस पर विद्वानों की टिप्पणी यह है कि वररुचि के समय तक माहाराष्ट्री का उदय नहीं हुआ था।

वररुचि और कात्यायन को कुछ इतिहासकारों ने एक ही माना है। कुछ ने कात्यायन को वररुचि का पिता कहा है। यह भी अनुमान किया गया है कि वररुचि सम्राट् विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे।

दूसरा प्राचीन व्याकरण चन्द्र-कृत 'प्राकृत-लक्षण' है। इसमें भी मुख्यतया सामान्य प्राकृत का वर्णन है और अन्य (पैशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश) की केवल विशेषताएँ बताई गई हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें माहाराष्ट्री और जैन प्राकृतों—आर्ष अथवा अर्द्ध-मागधी, जैन माहाराष्ट्री और जैन शौरसेनी का भी वर्णन है।

'पाइयलच्छीनाममाला' प्राकृत का प्रसिद्ध निरुक्त और कोश-ग्रंथ है। इसमें तत्सम, तद्भव और देश्य शब्दों का महत्त्वपूर्ण संग्रह है। धनपाल ने यह ग्रन्थ सन् ९७२ ई० में लिखा था।

सबसे अधिक सुलझा हुआ और सम्पूर्ण व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र-कृत 'सिद्ध हेमचन्द्र' है, जिसके अन्तिम अध्याय में प्राकृत का विवरण है। इसमें पहले सामान्य प्राकृत के और फिर शौरसेनी के लक्षण दिये गए हैं। मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश की केवल विशेषाताएँ दी गई हैं। इस ग्रन्थ पर लेखक की अपनी टीका है।

इनका एक कोश-ग्रन्थ 'देशी नाममाला' है। इसमें अनेक ऐसे शब्द है जो उपलब्ध प्राकृत-साहित्य में नहीं मिलते। धनपाल के कोश की तरह इसमें भी प्राकृत शब्दों के अर्थ संस्कृत में दिये गए हैं।

हेमचन्द्र के समकालीन क्रमदीश्वर ने हेमचन्द्र की शैली में 'संक्षिप्त-सार' लिखा है। यह भी एक संस्कृत व्याकरण है जिसके ८वें परिच्छेद में 'प्राकृत व्याकरण' है। अरिविक्रम (१३वीं शती) का 'प्राकृत-व्याकरण' भी हेमचन्द्र के अनुकरण में लिखा गया है।

लक्ष्मीधर की 'षड्भाषा-चन्द्रिका' में प्राकृतों का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश को 'षड्भाषा' की संज्ञा दी गई है। इन्हींकी व्याख्या इस ग्रन्थ में है। हाल ही में पुरुषोत्तम-कृत 'प्राकृतानुशासन'

और रामशर्मा तर्कवागीश-कृत 'प्राकृत कल्पतरु' की एक-एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इनका रचना-काल १६५० और ८५ ई० के बीच में निश्चित किया गया है।

उत्तरकाल का सबसे प्रसिद्ध भाषा-ग्रन्थ मार्कण्डेय का 'प्राकृत-सर्वस्व' है। इसमें प्राकृत भाषाओं का बहुत विस्तृत और वैज्ञानिक वर्गीकरण हुआ है। प्राकृत के चार विभाग किये गए हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाच। भाषा के पाँच भेद—माहाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी; विभाषा के चार भेद—शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरिका और टाक्की; अपभ्रंश के तीन भेद—नागर, व्राचड और उपनागर; तथा पैशाच के भी तीन भेद—कैकेय, शौरसेन और पांचाल—स्वीकार किये गए हैं। इस प्रकार कुल १६ प्राकृतें मानी हैं। आगे चलकर अपभ्रंश के २७ और पैशाच के ११ उपभेद किये गए हैं। १६ प्राकृतों का पूरा परिचय दिया गया है—माहाराष्ट्री का अधिक विस्तार से और शौरसेनी का विशेष-विशेष। शेष को इन्हींकी दृष्टि में रखा गया है। शब्दों और रूपों की तुलना संस्कृत से की गई है। मार्कण्डेय उड़ीसा के रहने वाले थे। इनका समय १७वीं शती का अन्त और १८वीं शती का आरम्भ निर्धारित किया जाता है!

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त त्रिविक्रम-कृत 'प्राकृत-व्याकरण', सिंहराज-कृत 'प्राकृत-रूपावतार', अप्पय दीक्षित-कृत 'प्राकृत मणिदीप' और शुभचन्द्र-कृत 'शब्दचिंतामणि' महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। रावण नाम के किसी लेखक के 'प्राकृत लंकेश्वर' और शेषकृष्ण के 'प्राकृत-चन्द्रिका' का उल्लेख मिलता है।

: ७ :

उपसंहार

पीछे के अध्ययन से यह विदित हुआ कि प्रथम ईसवी शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक सामान्यतः और १८वीं शती के आरम्भ तक विरलतः प्राकृत-साहित्य लिखा जाता रहा है। 'पउमचरिय' और 'गाहा-सत्तसई' से 'कंसवहो' और 'आनन्द सुन्दरी' तक १८ शताब्दियों का एक युग है। प्रथम शती से पहले भी प्राकृत में साहित्य-रचना अवश्य होती रही होगी; क्योंकि 'गाथासप्तशती' में जिन ११२ कवियों की कविताएँ उद्धृत हैं वे उससे बहुत पहले रही होंगी। फिर इन कृतियों की प्रौढ़ता और काव्य-कला इस बात को मानने के लिए बाध्य करती है कि इसकी दीर्घ परम्परा रही होगी। यदि महाराज अशोक की धर्मलिपियाँ शिलाओं पर अंकित न होकर पुस्तक-रूप में होतीं तो प्राकृत-साहित्य तीन शताब्दी और पुराना माना जाता। इन शिला-लेखों की रचना-शैली का गद्य के विकास में विशेष महत्त्व है। इनकी भाषा सरल और अनलंकृत है। इसी प्रकार महाराज खारवेल का वह लेख है जो कटक के करीब उदयगिरि-गुहा (हीथी-गुफा) में उत्कीर्ण है। इसमें खारवेल के राज्य के १३ वर्षों का वर्णन है। इनकी भाषा प्रौढ़ और साहित्यिक है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि २१०० वर्ष के इस दीर्घ काल में प्राकृत ही साहित्य का एक-मात्र माध्यम रही है। संस्कृत का प्रभाव-युग इससे लम्बा और इसके समानान्तर रहा है। इसलिए प्राकृत और संस्कृत का

आपस में लेन-देन का गहरा सम्बन्ध रहा है। संस्कृत की शैलियों और रूपों का प्राकृत पर थोड़ा-बहुत प्रभाव अवश्य पड़ा है। साधारणतया प्राकृत ने अपनी नई राहें निकाली हैं। अनेक दिशाओं में प्राकृत-साहित्य की मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। लौकिक संस्कृत के कथा-साहित्य में हम दण्डिन्-कृत 'दशकुमार चरित', सुबन्धु-कृत 'वासवदत्ता', बाणभट्ट-कृत 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी', पुराण, 'पंचतन्त्र' बस इन गिने-चुने ग्रन्थों का नाम ले सकते हैं। प्राकृत का कथा-साहित्य बहुत विस्तृत है। इसमें दृष्टान्त, लघुकथा, धर्मकथा, आख्यान, आख्यायिका, चरित, प्रबन्ध, उपन्यास आदि बीसियों रूप मिलते हैं। इनमें धार्मिक, ऐतिहासिक और काल्पनिक हर तरह की कथाएँ हैं। प्राकृत में जैन पुराणों की संख्या भी पर्याप्त है। काल-क्रम की दृष्टि से भी प्राकृत-साहित्य अधिक महत्त्वपूर्ण है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेक संस्कृत चरित-काव्यों, लघु नाटकों, कथा-ग्रन्थों की सृष्टि प्राकृत के आधार पर की गई है। संस्कृत-नाटकों में नृत्य, संगीत और कला एवं सामान्य पात्रों की भाषा पर प्राकृत का प्रभाव और प्रयोग स्पष्ट है।

परवर्ती भारतीय साहित्य पर प्राकृत का विशेष प्रभाव रहा है। बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी में अंग्रेजी से प्रभावित साहित्य से पहले का सम्पूर्ण साहित्य कई शताब्दियों तक प्राकृत से प्रेरणा पाकर विकसित होता रहा है। तमिल में 'पेरुन्कथइ' एवं पंचतन्त्र ग्रन्थों की रचना 'बृहत्कथा' के आधार पर हुई। आधुनिक आर्यभाषाओं में वैष्णवों के विनय पद, गीत और चरित-काव्य जैन-प्राकृत-साहित्य की परम्परा में आ सकते हैं। कम-से-कम इनकी शैली प्राकृत की अनुगृहीत है। आदि में देव-पूजा, गुरु-महिमा, सज्जन-दुर्जन-वन्दना, आत्मनिवेदन आदि-आदि प्राकृत-प्रबन्धों की परम्परा लगभग सभी परवर्त्ती भारतीय प्रबन्धों में मिलती है। हिन्दी में सूफी साहित्य के सारे-के-सारे कथानक प्राकृत-साहित्य से उद्धृत जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त भी जो प्रेमाख्यान उपलब्ध हुए हैं उनकी शैली पर प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत का कथा और चरित-साहित्य संसार-भर की भाषाओं के साहित्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसका गीति-काव्य भी किसी दृष्टि में औरों से कम नहीं है। भारतीय भाषाओं में 'सतसई' साहित्य का प्रारम्भ प्राकृत से ही होता है। संस्कृत के अलंकार-ग्रन्थों में भी प्राकृत-सतसइयों और मुक्तकों से अनेक उदाहरण उद्धृत किये गए हैं। इससे जाना जा सकता है कि प्राकृत में कई ऐसे अलंकारों की उद्भावना हुई है जिनके उदाहरण संस्कृत-साहित्य में नहीं मिलते। प्राकृत-साहित्य की सबसे बड़ी मौलिकता उपमाओं और रूपकों की नवीनता में है। इनके उदाहरण प्रायः लोक से लिये गए हैं, इसलिए कमल, नीलोत्पल और पिटे-पिटाये अन्य उपमानों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ है। प्राकृत के उपमानों में ताजगी है।

प्राकृत ने अनेक नये छन्दों का विकास भी किया और मात्रिक अथवा ताल-वृत्तों को लोक-काव्य से उठाकर अपने-अपने काव्यों में समाविष्ट किया है। प्राकृत का प्रिय छन्द गाथा है। अपभ्रंश में घत्ता और हिन्दी में दोहा इसीके भेद के रूप में विकसित हुए हैं। चौपाई का प्रारम्भ भी यहीं से हो जाता है।

साहित्य में प्राकृत का प्रयोग ब्राह्मण-धर्म से विद्रोह के रूप में हुआ। यही बात आरम्भ में बंगला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में सही है। जैनों ने प्राकृत और बौद्धों ने अपभ्रंश का व्यवहार किया तो नाथों, शैवों, सन्तों, वैष्णवों और भक्तों ने हिन्दी, गुजराती, बंगला, मराठी और पंजाबी का। विद्रोह का जो स्वर एवं जनता के भावों का जो व्यापक प्रतिनिधित्व प्राकृत और अपभ्रंश में मिलता है वही अधिक विस्तार से आधुनिक भाषाओं में पाया जाता है।

प्राकृतों की परम्परा के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्यों का मूल्यांकन अभी नहीं हुआ। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्राकृत भाषा और साहित्य पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ। भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में संस्कृत का रौब छाया हुआ है। इधर राष्ट्रीयता की

जाग्रति के साथ प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी राष्ट्रभाषा के विकास की ओर और प्रादेशिक भाषाओं के साहित्यों की समृद्धि की अधिक चिन्ता है। लेकिन हम यह नहीं जानते कि प्राकृत का अध्ययन संस्कृत और आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं तथा उनके साहित्यों को समझने और अपनी परम्परा की कड़ियाँ जोड़ने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। हाल ही में विद्वानों का ध्यान प्राकृत की ओर आकृष्ट हुआ है और हम जानने लगे हैं कि प्राकृत में कुछ ऐसी बात अवश्य है जिसके कारण संस्कृत के बड़े-बड़े आचार्य और कवि इस पर मुग्ध रहे हैं। अब तो विश्व-विद्यालयों में भी इसे स्थान मिलने लगा है। इधर पिछले २०-२५ वर्ष में प्राकृत के बीसियों ग्रन्थ मुद्रित होकर प्रकाशित हुए हैं। बीसियों के नाम-मात्र ज्ञात हैं, लेकिन देश की भाषा, संस्कृति और साहित्य से अनुराग रखने वाले अनेक महानुभाव खोज में लगे हैं। उनके प्रयत्नों से जो-कुछ उपलब्ध हुआ है उससे भारतीय साहित्य का गौरव बढ़ा है और जो कुछ आगे प्रकाश में आने वाला है, उससे अधिकाधिक फल की आशा की जा सकती है।

अध्ययन-सामग्री

प्राकृत भाषा—

अभिधान राजेन्द्र, ७ भाग, राजेन्द्र सूरि	(हिन्दी)
अर्धमागधी रीडर, बनारसीदास जैन, १९२३	(अंग्रेजी)
इण्ट्रोडक्शन टु प्राकृत, ए० सी० वुल्नर, १९३९	(,,)
इण्डो आर्यन एण्ड हिन्दी, एस० के चटर्जी, १९४२	(,,)
ए ग्रामर ऑव दि प्राकृत लैंग्वेज, दिनेशचन्द्र सरकार १९४३	(,,)
एन इण्ट्रोडक्शन टु अर्धमागधी, ए० एम० घाटगे, १९४०	(,,)
कम्पैरेटिव ग्रामर ऑव दि मिडल इण्डो-आर्यन, सुकुमार सेन, १९५१	(,,)
ग्रामाटीक देर प्राकृत स्प्राशे, रिचर्ड पिशल, १९०२	(जर्मन)
पाइअ सद्द महण्णवो, हरगोविन्ददास, सेठ, १९२३	(हिन्दी)
प्राकृत कौमुदी, रत्नचन्द्र	(,,)
प्राकृत प्रवेशिका, अनु० बनारसीदास जैन	(,,)
प्राकृत मार्गोपदेशिका, बेचरदास जोशी, सं० २००३	(गुजराती)
प्राकृत विमर्श, सरयूप्रसाद, अग्रवाल, १९५३	(हिन्दी)[1]

प्राकृत साहित्य—

ए हिस्टरी ऑव केनानिकल लिटरेचर ऑव दि जैन्स, कपाडिया, १९४१	(अंग्रेजी)

---

१. इनके अतिरिक्त अध्याय ९ में वर्णित प्राकृत व्याकरण और कोश।

कैटेलॉग ऑव संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स
इन सी० पी० एण्ड बरार (अंग्रेजी)
कैटेलाग पाटन भांडार (,,)
जिनागम कथा-संग्रह, बेचरदास जोशी, १९४० (गुजराती)
जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम 'प्रेमी' (हिन्दी)
दि लेहर देर जैन्स, वाश देन आल्टन क्वेलन दर्गेस्टेल्ट
वाल्टर शुबरिंग बर्लिन, १९३५ (अंग्रेजी)
प्राकृत लैंग्वेजिज एण्ड देयर कॉण्ट्रीब्यूशन टु इंडियन कल्चर
एस० एम० कात्रे १९४५ (,,)
साइक्लोपीडिक डिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर,
जे० टी० शिपले (,,)
हिस्टरी ऑव इंडियन लिटरेचर, विण्टरनित्स, भाग २, १९३३ (,,)[1]

पत्र-पत्रिकाएँ—

अनेकान्त, भाग ५ (हिन्दी)
इंडियन एण्टिक्वेटरी, भाग १७-२१ (अंग्रेजी)
इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, भाग ८ (,,)
एनल्स भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, १९३२, १९३४-३५ (,,)
जर्नल ऑव दि डिपार्टमैण्ट ऑव लैटर्स, कलकत्ता, भाग २३ (,,)
जर्नल ऑव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बाम्बे ब्राञ्च,
भाग १८, १९३५ (,,)
जर्नल ऑव दि यूनिवर्सिटी ऑव बाम्बे, १९३६, १९४३ (,,)
जैन एण्टीक्वेरी (,,)

१. इनके अतिरिक्त अध्याय २, ३, ४, ५ और ७ में वर्णित मूल ग्रन्थों के प्रकाशित संस्करण और उनकी भूमिकाएँ।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', भाग १९४७,१९४२ (हिन्दी)
प्रोसीडिंग्स ऑव दि ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, १९२९ (अंग्रेजी)
बुलेटिन ऑव दि स्कूल ऑव ओरियण्टल स्टडीज, भाग ८ (,,)
भारतीय विद्या, १९४०,१९४१,१९४२ (,,)
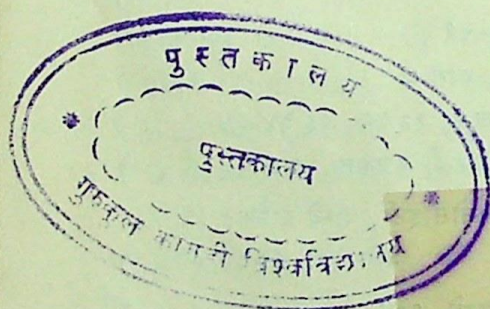
भारतीय साहित्य-परिचय के लेखक

१. डॉक्टर शान्तिकुमार नानूराम व्यास
२. श्री नागार्जुन
३. डॉक्टर हरदेव बाहरी
४. श्री परमानन्द शास्त्री
५. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
६. डॉक्टर सत्येन्द्र
७. डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित
८. श्री नरोत्तमदास स्वामी
९. डॉक्टर कृष्णदेव उपाध्याय
१०. डॉक्टर उमेश मिश्र
११. श्री श्याम परमार
१२. श्री कृष्णानन्द गुप्त
१३. श्री रामनारायण उपाध्याय
१४. डॉक्टर श्यामाचरण दुबे
१५. श्री गोपीनाथ 'अमन'
१६. श्री हंसकुमार तिवारी
१७. श्री सुरेन्द्र महन्थी
१८. श्री जीतेन्द्रचन्द्र चौधुरी
१९. श्री प्रभाकर माचवे
२०. डॉक्टर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'
२१. श्री पूर्ण सोमसुन्दरम्
२२. श्री हनुमच्छास्त्री 'अयाचित'
२३. श्री एन० वी० कृष्ण वारियर
२४. श्री पी० वेंकटाचल शर्मा
२५. श्रीमती अमृता प्रीतम
२६. श्री पृथ्वीनाथ 'पुष्प'
२७. श्री ईश्वर बराल

...ाहित्य-परिचय

...ात निम्न भाषाओं
...की पुस्तकें प्रस्तुत की जा रही हैं:

१. संस्कृत
२. पालि
३. प्राकृत
४. अपभ्रंश
५. खड़ी बोली
६. ब्रजभाषा
७. अवधी
८. राजस्थानी
९. भोजपुरी
१०. मैथिली
११. मालवी
१२. बुन्देलखण्डी
१३. निमाड़ी
१४. छत्तीसगढ़ी
१५. उर्दू
१६. बंगला
१७. उड़िया
१८. असमिया
१९. मराठी
२०. गुजराती
२१. तमिल
२२. तेलुगु
२३. मलयालम
२४. कन्नड़
२५. पंजाबी
२६. काश्मीरी
२७. नेपाली